☐ मुनि श्री नगराज जी डी० लिट्०
[इतिहास एवं साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान, अणुव्रत के व्याख्याता]

प्राकृत भाषा :
उद्‌गम, विकास और भेद-प्रभेद

☐

देश और काल

भाषा वैज्ञानिकों ने भारतीय आर्य भाषाओं के विकास का जो काल-क्रम निर्धारित किया है, उसके अनुसार प्राकृत का काल ई० पू० ५०० से प्रारम्भ होता है। पर वस्तुतः यह बात भाषा के साहित्यिक रूप की अपेक्षा से है। यद्यपि वैदिक भाषा की प्राचीनता में किसी को सन्देह नहीं है, पर, वह अपने समय में जनसाधारण की बोलचाल की भाषा रही हो, ऐसा सम्भव नहीं लगता। वह ऋषियों, विद्वानों तथा पुरोहितों की साहित्य-भाषा थी। यह असम्भव नहीं है कि उस समय वैदिकभाषा में सामंजस्य रखने वाली अनेक बोलियाँ प्रचलित रही हों। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने प्रादेशिक दृष्टि से एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूपों के प्रयोग के सम्बन्ध में महाभाष्य में जो उल्लेख किया है, सम्भवतः वह इसी तथ्य को पुष्ट करता है कि कुछेक प्रदेशों में वैदिक भाषा के कतिपय शब्द उन-उन प्रदेशों की बोलियों के संसर्ग से कुछ भिन्न रूप में अथवा किन्हीं शब्दों के कोई विशेष रूप प्रयोग में आने लगे थे। यह भी अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता कि इन्हीं बोलियों में से कोई एक बोली रही हो, जिसके पुरावर्तीरूप ने परिमार्जित होकर छन्दस् या वैदिक संस्कृत का साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर लिया हो।

कतिपय विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि वेदों का रचना-काल आर्यों के दूसरे दल के भारत में प्रविष्ट होने के बाद आता है। दूसरे दल के आर्य पंचनद तथा सरस्वती व दृषद्वती के तटवर्ती प्रदेश में होते हुए मध्य देश में आये। इस क्रम के बीच वेद का कुछ भाग पंचनद में तथा सरस्वती व दृषद्वती की घाटी में बना और बहुत-सा भाग मध्यदेश में प्रणीत हुआ। अथर्ववेद का काफी भाग जो परवर्ती माना जाता है, सम्भवतः पूर्व में बना हो।

पहले दल के आर्यों द्वारा जिन्हें दूसरे दल के आर्यों ने मध्यदेश से खदेड़ दिया था, वेद की तरह किसी भी साहित्य के रचे जाने का उल्लेख नहीं मिलता। यही कारण है कि मध्यदेश के चारों ओर के लोग जिन भाषाओं का बोलचाल में प्रयोग करते थे, उनका कोई भी साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। इसलिए उनके प्राचीन रूप की विशेषताओं को हम नहीं जान सकते, न अनुमान का ही कोई आधार है। वैदिक युग में पश्चिम, उत्तर, मध्यदेश और पूर्व में जनसाधारण के उपयोग में आने वाली इन बोलियों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैदिक युग से पूर्ववर्ती भी कोई रूप भी रहे होंगे, जिनके विकास के रूप में इनका उद्भव हुआ। वैदिक-काल के पूर्व की ओर समवर्ती जनभाषाओं को सर जार्ज ग्रियर्सन ने प्राथमिक प्राकृतों (Primary Prakritas) के नाम से उल्लिखित किया है। इनका समय २००० ई० पूर्व से ६०० ई० पूर्व तक माना जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये प्राथमिक प्राकृतें स्वरों एवं व्यंजनों के उच्चारण, विभक्तियों के प्रयोग आदि में वैदिक भाषा से बहुत समानताएँ रखती थीं। इन भाषाओं से विकास पाकर उत्तर-वर्ती प्राकृतों का जो साहित्यिक रूप अस्तित्व में आया, उससे यह प्रमाणित होता है।

पतंजलि की ध्वनियों में

महाभाष्यकार पतंजलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में व्याकरण या शब्दानुशासन के प्रयोजनों की चर्चा के सन्दर्भ में शुद्ध शब्दों तथा दुष्ट शब्दों या अपशब्दों की चर्चा की है। दुष्ट शब्दों के प्रयोग से बचने और शुद्ध शब्दों का प्रयोग करने पर जोर देते हुए उन्होंने निम्नांकित श्लोक उपस्थित किया है—

"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे,
शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र,
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥"[1]

अर्थात् जो शब्दों के प्रयोग को जानता है, वैसा करने में कुशल है, वह व्यवहार के समय उनका यथोचित प्रयोग करता है, वह परलोक में अनन्त जय-उत्कर्ष-अभ्युदय प्राप्त करता है। जो अपशब्दों का प्रयोग करता है, वह दूषित—दोष भागी होता है।

आगे वे दुष्ट शब्दों या अपशब्दों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं। जैसे गो शब्द के गावी, गोणी, गोपोतलिका इत्यादि हैं।[2]

यहाँ अपभ्रंश शब्द का प्रयोग उन भाषाओं के अर्थ में नहीं है, जो पाँचवीं शती से लगभग दशवीं शती तक भारत (पश्चिम, पूर्व, उत्तर और मध्यमण्डल) में प्रसृत रहीं, जो प्राकृतों का उत्तरवर्ती विकसित रूप थीं। यहाँ अपभ्रंश का प्रयोग संस्कृतेतर लोकभाषाओं, जिन्हें उस काल की प्राकृतें कहा जा सकता है, के शब्दों के लिए है। ऐसा प्रतीत होता है, तब लोकभाषाओं के प्रसार और प्रयोग का क्षेत्र बहुत व्यापक हो चला हो। उनके शब्द सम्भवतः वैदिक और लौकिक संस्कृत में प्रवेश पाने लग गये हों। अतः भाषा की शुद्धि के पक्षपाती पुरोहित विद्वान् उस पर रोक लगाने के लिए बहुत प्रयत्नशील हुए हों। पतंजलि के विवेचन की ध्वनि कुछ इसी प्रकार की प्रतीत होती है।

वे (पतंजलि) कुछ आगे और कहते हैं—"सुना जाता है कि 'यर्वाण-तर्वाण' नामक ऋषि थे। वे प्रत्यक्ष धर्माधर्म का साक्षात्कार किये हुए थे। पर और अपर—परा और अपरा विद्या के ज्ञाता थे।

---

१. महाभाष्य, प्रथम आन्हिक, पृष्ठ ७

२. एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोपोतलिकेत्येव-मादयोऽपभ्रंशाः। —महाभाष्य, प्रथम आन्हिक पृष्ठ ८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो कुछ ज्ञातव्य-जानने योग्य है उसे वे जान चुके थे। वे वास्तविकता को पहचाने हुए थे। वे आदरास्पद ऋषि 'यद् वा नः तद् वा नः'—ऐसा प्रयोग जहाँ किया जाना चाहिए, वहाँ 'यर्वाणःतर्वाणः' ऐसा प्रयोग करते थे। परन्तु याज्ञिक-कर्म में अपभाषण-अशुद्ध शब्दों का उच्चारण नहीं करते थे। असुरों ने याज्ञिक कर्म में अपभाषण किया था अत: उनका पराभव हुआ।"[1]

पतंजलि के कहने का आशय यह है कि वैदिक परम्परा के विद्वान् पण्डित भी कभी-कभी बोलचाल में लोक-भाषा के शब्दों का प्रयोग कर लेते थे। पतंजलि इसे तो क्षम्य मान लेते हैं परन्तु इस बात पर वे जोर देते हैं कि यज्ञ में अशुद्ध भाषा कदापि व्यवहृत नहीं होनी चाहिए। वैसा होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। पतंजलि के कथन से यह अभिव्यंजित होता है कि इस बात की बड़ी चिन्ता व्याप्त हो गई थी कि लोक-भाषाओं का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रवाह याज्ञिक कर्म-विधि तक कहीं न पहुँच जाये।

आगे चलकर पतंजलि यहाँ तक कहते हैं—

"याज्ञिकों के शब्द हैं कि यदि अहिताग्नि (याज्ञिक) अग्न्याधान किये हुए व्यक्ति द्वारा अपशब्द का प्रयोग हो जाये तो उसे उसके प्रायश्चित-स्वरूप सरस्वती इष्टि सारस्वत (सरस्वती देवताओं को उद्दिष्ट कर) यज्ञ करना चाहिए।"[2]

एक स्थान पर पतंजलि लिखते हैं—"…………जिन प्रतिपादिकों का विधिवाक्यों में ग्रहण नहीं किया गया है, उनका भी स्वर तथा वर्णानुर्षी के ज्ञान के लिए उपदेश संग्रह इष्ट है ताकि शश के स्थान पर षष, पलाश के स्थान पर पलाष और मञ्चक के स्थान पर मंजक का प्रयोग न होने लगे।"[3]

पतंजलि के समक्ष एक प्रश्न और आता है। वह उन शब्दों के सम्बन्ध में है, जो पतंजलि के समय या उनसे पहले से ही संस्कृत में प्रयोग में नहीं आ रहे थे, यद्यपि वे थे संस्कृत के ही। ऊष, तेर, चक्र तथा पेच—इन चार शब्दों को पतंजलि ने उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने ऊष के स्थान पर उषिताः, तेर के स्थान पर तीर्णाः, चक्र के स्थान पर कृतवन्तः तथा पेच के स्थान पर पक्ववन्तः के रूप में जो प्रयोग प्रचलित थे, उनकी भी चर्चा की है।[4]

---

१. एवं हि श्रूयते-यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परावरज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः। ते तत्र भवन्तो यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते। तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम् ततस्ते पराभूताः।

—महाभाष्य, प्रथम आन्हिक पृष्ठ ३७-३८

२. याज्ञिकाः पठन्ति आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्।

—महाभाष्य प्रथम आन्हिक पृ० १४

३. …………यानि तर्ह्य ग्रहणानि प्रातिपदिकानि, एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वी ज्ञानार्थ उपदेशः कर्तव्यः। शशः षष इति मा भूत्। पलाशः पलाष इति मा भूत्। मञ्चको मञ्चक इति मा भूत्।

—महाभाष्य प्रथम आन्हिक पृ० ४८

४. अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां नाय्यः। कुतः। प्रयोगान्यत्वात् यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याच्छब्दान्प्रयुञ्जते। तद्यथा ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्वयूयमुषिताः तेरेत्यस्यार्थे क्व यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे क्व यूयं कृतवन्तः, पेचेत्यस्यार्थे क्व यूयं पक्ववन्त इति।

—महाभाष्य प्रथम, आन्हिक पृष्ठ ३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर इन शब्दों के अप्रयोग का परिहार करते हुए वे लिखते हैं—

"हो सकता है, वे शब्द जिन्हें अप्रयुक्त कहा जाता है, अन्य देशों, स्थानों में प्रयुक्त होते हों, हमें प्रयुक्त होते नहीं मिलते हों। उन्हें प्राप्त करने का यत्न कीजिए। शब्दों के प्रयोग का क्षेत्र बड़ा विशाल है। यह पृथ्वी सात द्वीपों और तीन लोकों में विभक्त है। चार वेद हैं। उनके छः अंग हैं। उनके रहस्य या तत्वबोधक इतर ग्रन्थ हैं। यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ हैं, जो परस्पर भिन्न हैं। सामवेद की एक हजार मार्ग-परम्पराएँ हैं। ऋग्वेदियों के आम्नाय-परम्परा-क्रम इक्कीस प्रकार के हैं। अथर्ववेद नौ रूपों में विभक्त है। वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तरात्मक ग्रन्थ) इतिहास, पुराण, आयुर्वेद इत्यादि अनेक शास्त्र हैं, जो शब्दों के प्रयोग के विषय हैं। शब्दों के प्रयोग के इतने विशाल विषय को सुने बिना यों कहना कि अमुक शब्द अप्रयुक्त हैं, केवल दुःसाहस है।"[1]

पतंजलि के उपर्युक्त कथन में दो बातें विशेष रूप से प्रतीत होती हैं, एक यह है—संस्कृत के कतिपय शब्द लोकभाषा के ढाँचे में ढलते जा रहे थे। उससे उनका व्याकरण-शुद्ध रूप अक्षुण्ण कैसे रह सकता। लोक-भाषाओं के ढाँचे में ढला हुआ—किंचित् परिवर्तित या सरलीकृत रूप संस्कृत में प्रयुक्त न होने लगे, इस पर पतंजलि जोर देते हैं। क्योंकि वैसा होने पर संस्कृत की शुद्धता स्थिर नहीं रह सकती थी। शश-षष, पलाश-पलाष, मञ्चक, मञ्जक जो पतंजलि द्वारा उल्लिखित किये गये हैं, वे निश्चय ही इसके द्योतक हैं।

दूसरी बात यह है कि संस्कृत के कुछ शब्द लोक-भाषाओं में इतने घुलमिल गये होंगे कि उनमें प्रयोग सहज हो गया। सामान्यतः वे लोकभाषा के ही शब्द समझे जाने लगे हों। संस्कृत के क्षेत्र पर इसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। वहाँ उनका प्रयोग बन्द हो गया। हो सकता है, आपाततः संस्कृतज्ञों द्वारा उन्हें लोक-भाषा के ही शब्द मान लिया गया हो या जानबूझ कर उनसे दुराव की स्थिति उत्पन्न कर ली गई हो।

पतंजलि के मस्तिष्क पर सम्भवतः इन बातों का असर रहा हो। इसलिए वे इन शब्दों की अप्रयुक्तता के कारण होने वाली भ्रांति का प्रतिकार करने के लिए प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं।

शुद्ध वाक्-ज्ञान, शुद्ध वाक्-प्रयोग, शुद्ध वाक्-व्यवहार को अक्षुण्ण बनाये रखने की पतंजलि को कितनी चिन्ता थी, यह उनके उस कथन से स्पष्ट हो जाता है जिसमें उन्होंने अक्षर-समम्नाय के ज्ञान को परम पुण्यदायक एवं श्रेयस्कर बताया है। उन्होंने लिखा है :—

"यह अक्षर-समम्नाय ही वाक्समम्नाय है अर्थात् वाक्-वाणी या भाषा रूप में परिणत होने वाला

---

१. सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महाञ्छब्दस्य प्रयोग विषयः। सप्त द्वीपा वसुमती त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः, साङ्गाः सरहस्याः, बहुधा भिन्ना एकादशमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाऽऽथर्वणोवेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणम्। वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोग विषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव।

—महाभाष्य, प्रथम आन्हिक पृष्ठ ३२-३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस पुष्पित, फलित तथा चन्द्रमा व तारों की तरह प्रतिमण्डित अक्षर-समम्नाय को शब्द-रूप ब्रह्म-तत्त्व समझना चाहिए। इसके ज्ञान से सब वेदों के अध्ययन से मिलने वाला पुण्य-फल प्राप्त होता है। इसके अध्येता के माता-पिता स्वर्ग में गौरवान्वित होते हैं।"[1]

अस्तु, साधारणतया भाषा वैज्ञानिक प्राकृतों को मध्यकालीन आर्यभाषा काल में लेते हैं। जैसा कि उल्लेख किया गया है, वे ५०० ई० पूर्व से १००० ई० तक का समय इसमें गिनते हैं। कतिपय विद्वान् ६०० ई० पूर्व से इसका प्रारम्भ तथा ११०० या १२०० ई० तक समापन स्वीकार करते हैं।

प्राकृत-काल—तीन भागों में

स्थूल रूप में यह लगभग मिलती-जुलती-सी बात है। क्योंकि भाषाओं के विकास-क्रम में काल का सर्वथा इत्थंभूत अनुमान सम्भव नहीं होता। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल को प्राकृत-काल भी कहा जाता है। यह पूरा काल तीन भागों में और बांटा जाता है—प्रथम प्राकृत-काल, द्वितीय प्राकृत-काल, तृतीय प्राकृत-काल।

प्रथम प्राकृत-काल प्रारम्भ से अर्थात् ५०० ई० पूर्व से ई० सन् के आरम्भ तक माना जाता है। इसमें पालि तथा शिलालेखी प्राकृत को लिया गया है। दूसरा काल ई० सन् से ५०० ई० तक का माना जाता हैं। इसमें प्रवृत्त भाषा प्राकृत नाम से अभिहित की गई है। प्राकृत के अन्तर्गत कई प्रकार की प्राकृतों का समावेश है, जिनके स्वतन्त्र रूप स्पष्ट हो चुके थे। तीसरे काल की अवधि ५०० ई० से १००० ई० तक मानी जाती है। इसकी भाषा का नाम अपभ्रंश है, जो प्राकृतों का उत्तरवर्ती विकास था।

पण्डित हरगोविन्ददास टी० सेठ ने भी पाइअ सद्दमहण्णवो की भूमिका में इस प्राकृत-काल को, जिसे उन्होंने द्वितीय स्तर की प्राकृतों का समय कहा है, तीन युगों में विभक्त किया है। प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण में उपयोगी होने से उसे यहाँ उद्‌धृत किया जाता है :—

प्रथम युग (खिस्त पूर्व ४०० ई० से खिस्त के बाद १०० ई०)

(क) हीनयान बौद्धों के त्रिपिटक, महावंश और जातक प्रभृति ग्रन्थों की पालि-भाषा।
(ख) पैशाची और चूलिका पैशाची।
(ग) जैन आगम-ग्रन्थों की अर्द्धमागधी भाषा।
(घ) अंगग्रन्थभिन्न प्राचीन सूत्रों की और पउमचरिअं आदि प्राचीन ग्रन्थों की जैन महाराष्ट्री भाषा।
(ङ) अशोक-शिलालेखों की एवं परवर्तिकाल के प्राचीन शिलालेखों की भाषा।
अश्वघोष के नाटकों की भाषा **मध्ययुग** (खिस्तीय १०० से ५००)।
(क) त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित भासचरित कहे जाते नाटकों और बाद के कालिदास प्रभृति के नाटकों की शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री भाषाएँ।

---

१. सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, माता पितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते।
—महाभाष्य, द्वितीय आन्हिक, पृष्ठ ११३

आचार्यप्रवर अभिनन्दन श्री आनन्द ग्रन्थ श्री आचार्यप्रवर अभिनन्दन श्री आनन्द ग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ख) सेतुबन्ध, गाथासप्तशती आदि काव्यों की महाराष्ट्री भाषा।

(ग) प्राकृत व्याकरणों में जिनके लक्षण और उदाहरण पाये जाते हैं, वे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची भाषाएँ।

(घ) दिगम्बर जैन ग्रन्थों की शौरसेनी और परवर्तिकाल के श्वेताम्बरों की जैन महाराष्ट्री भाषा।

(ङ) चण्ड के व्याकरण में निर्दिष्ट और विक्रमोर्वशीय में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा।

शेष युग (ख्रिस्तीय ५०० से १००० वर्ष)

भिन्न-भिन्न प्रदेशों की परवर्तिकाल की अपभ्रंश भाषाएँ।

पण्डित हरगोविन्ददास टी० सेठ का यह विभाजन प्राकृत के भेदों पर विस्तार से प्रकाश डालता है। प्राकृत के भेदों के सम्बन्ध में आगे यथाप्रसंग विस्तार से विचार किया जायेगा। इस सम्बन्ध में विश्लेषण करने से पूर्व प्राकृत की उत्पत्ति पर विचार करना आवश्यक है।

प्राकृत के नाम-नामान्तर

प्राकृत के लिए पाइय, पाइअ, पाउय, पाउड, पागड, पागत, पागय, पायअ पायय, पायउ जैसे अनेक नाम प्राप्त हैं। जैन अंग साहित्य में तीसरे अंग स्थानांग सूत्र[1] में **पागत** शब्द व्यवहृत हुआ है। क्षमाश्रमण जिनभद्रगणिकृत विशेषावश्यक भाष्य[2] की टीका में हेमचन्द्र सूरि ने **पागय** शब्द का प्रयोग किया है। राजशेखर द्वारा रचित कर्पूरमन्जरी[3] नामक सट्टक में **पाउअ** शब्द आया है। वाक्पतिराज ने गउडवहो नामक अपने प्राकृत काव्य में **पायय**[4] शब्द का प्रयोग किया है। ये सभी शब्द प्राकृत के अर्थ में हैं। नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र[5] में प्राकृत के नाम से इस भाषा को अभिहित किया है।

प्राकृत का उत्पत्ति-स्रोत

भाषा वैज्ञानिक साधारणतया ऐसा मानते आ रहे हैं कि आर्य-भाषाओं के विकास-क्रम के अन्तर्गत वैदिक भाषा से संस्कृत का विकास हुआ और संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ। इसीलिए भाषा वैज्ञानिक इसका अस्तित्व संस्कृत-काल के पश्चात् स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में हमें विशद रूप से विचार करना है।

वैयाकरणों की मान्यताएँ—

सुप्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में "प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं तत आगतं व प्राकृतम्।" अर्थात् प्रकृति संस्कृत है, वहाँ होने वाली या उससे आने वाली भाषा प्राकृत

---

१. स्थानांग सूत्र, स्थान ७, सूत्र ५५३
२. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १४६६ की टीका
३. कर्पूरमंजरी, जवनिका १, श्लोक ८
४. गउडवहो, गाथा ६२
५. नाट्यशास्त्र, अध्याय १७, श्लोक १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। मार्कण्डेय ने प्राकृत-सर्वस्व में प्राकृत का "प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवं प्राकृतमुच्यते" प्रकृति संस्कृत है, वहाँ होने वाली भाषा अर्थात् उससे निष्पन्न होने वाली भाषा प्राकृत कही जाती है—ऐसा लक्षण किया है। प्राकृत-चन्द्रिका में "प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवत्वात् प्राकृत स्मृतम्" प्रकृति संस्कृत है, वहाँ होने से या उससे उद्भूत होने से यह भाषा प्राकृत कही गई है—ऐसा उल्लेख किया गया है। नरसिंह ने षड्भाषाचन्द्रिका में "प्राकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता" संस्कृत रूप प्रकृति का विकार-विकास माना गया है—ऐसा विवेचन किया गया है। प्राकृत-संजीवनी में कहा गया है कि "प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः" अर्थात् प्राकृत का मूल स्रोत सर्वथा संस्कृत ही है।

नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् धनिक ने दशरूपक में "प्राकृतेः आगतं प्राकृतम् प्रकृतिः संस्कृतम्" जो प्रकृति से आगत है वह प्राकृत है और प्रकृति संस्कृत है—ऐसा विश्लेषण किया है। सिंहदेवगणी ने वाग्भटालङ्कार की टीका में "प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्" संस्कृत रूप प्रकृति से जो भाषा आई, उद्भूत हुई, वह प्राकृत है—ऐसी व्याख्या की है। काव्यादर्श के टीकाकार प्रेमचन्द तर्कवागीश ने लिखा है—"संस्कृतरूपाया प्राकृतेः उत्पन्नत्वात् प्राकृतम्" संस्कृत रूप प्रकृति से उत्पन्नता के कारण यह भाषा प्राकृत नाम से अभिहित हुई है। नारायण ने रसिकसर्वस्व में प्राकृत और अपभ्रंश के उद्भव की चर्चा करते हुए कहा है—"संस्कृतात् प्राकृतमिष्टम् ततोऽपभ्रंशभाषणम्" संस्कृत से प्राकृत और उससे अपभ्रंश अस्तित्व में आई।

प्राकृत के वैयाकरणों तथा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के कतिपय टीकाकारों के उपर्युक्त विचारों से सामान्यतः यह प्रकट होता है कि उन सबकी प्रायः एक ही धारणा थी कि संस्कृत से प्राकृत उत्पन्न हुई है।

यहाँ सबसे पहले सोचने की बात है कि संस्कृत का अर्थ ही संस्कार, परिमार्जन या संशोधन की हुई भाषा है, तब उससे प्राकृत जैसी किसी दूसरी भाषा का उद्भूत होना कैसे संभव हो सकता है। या तो प्राकृत के उपर्युक्त वैयाकरणों ने और काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने भाषा-तत्त्व या भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सोचा नहीं था या उनके कहने का आशय कुछ और था।

प्रकृति शब्द का मुख्य अर्थ जन-साधारण या स्वभाव होता है। जन-साधारण की भाषा या स्वाभाविक भाषा—वस्तुतः प्राकृत का ऐसा ही अर्थ होना चाहिए। आगे हम कुछ विद्वानों के मतों की चर्चा करेंगे, जिससे यह संगत प्रतीत होगा।

उपर्युक्त विद्वानों ने यदि वस्तुतः संस्कृत को प्राकृत का मूल स्रोत स्वीकार किया हो, इसी अर्थ में संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहा हो तो यह विचारणीय है। जैसा कि सिद्ध है, संस्कृत व्याकरण से सर्वथा नियमित एवं प्रतिबद्ध हो चुकी थी। ऐसा होने के बाद भाषा का अपना स्वरूप तो यथावत् बना रहता है पर उसका विकास रुक जाता है। उससे किसी नई भाषा का प्रसूत होना सम्भव नहीं होता। क्योंकि वह स्वयं किसी बोलचाल की भाषा (जन-भाषा) के आधार पर संस्कार-युक्त रूप धारण करती है। आचार्य हेमचन्द्र जैसा विद्वान् जिसकी धार्मिक परम्परा में प्राकृत को जगत् की आदिभाषा तक कहा गया है, इसे संस्कृत से निःसृत माने, यह कैसे सम्भव हो सकता है। हेमचन्द्र आदि वैयाकरणों ने संस्कृत को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत की प्रकृति के रूप में जो निरूपित किया है, उसका एक विशेष आशय प्रतीत होता है। ये वैयाकरण तथा काव्यशास्त्रीय टीकाकार प्रायः प्राकृत-काल के पश्चाद्वर्ती हैं। इनका समय अपभ्रंशों के अनन्तर आधुनिक भाषाओं के उद्गम तथा विकास के निकट का है। तब प्राकृत का पठन-पाठन लगभग बन्द हो गया था। यहाँ तक कि प्राकृत को समझने के लिए संस्कृत-छाया से काम लेना पड़ता था अर्थात् पुरातन भाषाओं के सीखने का माध्यम संस्कृत थी। इसका मुख्य कारण यह है कि संस्कृत यद्यपि लोक-भाषा का रूप कभी भी नहीं ले सकी परन्तु भारत की आर्यभाषाओं के आदिकाल से लेकर अनेक शताब्दियों तक वह भारत में एक शिष्टभाषा के रूप में प्रवृत्त रही। इस दृष्टि से उसकी व्याप्ति और महत्त्व क्षीण नहीं हुआ। तभी तो जैसा कि सूचित किया गया है, काल-क्रमवश जन-जन के लिए अपरिचित बनी प्राकृत जैसी भाषा जो कभी सर्वजन-प्रचलित भाषा थी, को समझने के लिए संस्कृत जैसी शिष्टभाषा का अवलम्बन लेना पड़ा। सम्भवतः प्राकृत-वैयाकरणों के मन पर इसी स्थिति का असर था। यही कारण है कि उन्होंने प्राकृत का आधार संस्कृत बताया। यहाँ तक हुआ, जैन विद्वान्, जैन श्रमण, जिनका मौलिक वाङ्मय प्राकृत में रचित है, अपने आर्य ग्रन्थों के समझने में संस्कृत छाया और टीका का सहारा आवश्यक मानने लगे थे।

विशेषतः हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ और ज्ञापनीय है। हेमचन्द्र ने कोई स्वतन्त्र प्राकृत-व्याकरण नहीं लिखा। वस्तुतः हेमचन्द्र ने सिद्धहैमशब्दानुशासन के नाम से बृहत् संस्कृत-व्याकरण की रचना[1] की। उसके सात अध्यायों में संस्कृत-व्याकरण के समग्र विषयों का विवेचन है।

---

१. आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण रचने के सम्बन्ध में एक घटना है। गुर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंह, जो गुर्जरदेश को काश्मीर, काशी और मिथिला की तरह संस्कृत विद्या का प्रशस्त पीठ देखना चाहता था, का अपने राज्य के विद्वानों से यह अनुरोध था कि वे एक नूतन व्याकरण की रचना करें, जो अपनी कोटि की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति हो। सिद्धराज जयसिंह को विशेषतः यह प्रेरणा तब मिली, जब उसने अपने द्वारा जीते गये मालवदेश के लूट के माल में आये एक ग्रन्थ-भण्डार की गवेषणा करवाई। उसमें धाराधीश भोज द्वारा रचित एक व्याकरण-ग्रन्थ पर सिद्धराज की दृष्टि पड़ी, जिस (ग्रन्थ) की पण्डितों ने बड़ी प्रशंसा की। सिद्धराज की साहित्यिक स्पर्द्धा जागी। फलतः उसने विद्वानों से उक्त अनुरोध किया। सिद्धराज की राजसभा में हेमचन्द्र का सर्वातिशायी स्थान था। वे अप्रतिम प्रतिभा के धनी थे, अनेक विषयों के मार्मिक विद्वान् थे। प्रभावकचरित में इस प्रसंग का यों उल्लेख किया गया है—

"सर्वे सम्भूय विद्वान्सो, हेमचन्द्रं व्यलोकयन्।
महाभक्त्या राज्ञासावभ्यर्च्य प्रार्थितस्ततः॥
शब्दव्युत्पत्तिकृच्छास्त्रं निर्मायास्मन्मनोरथम्।
पूरयस्व महर्षे! त्वं, बिना त्वामत्र कः प्रभुः॥
यशो मम तव ख्यातिः, पुण्यं च मुनिनायक!
विश्वलोकोपकाराय, कुरु व्याकरणं नवम्॥"

—प्रभावकचरित १२, ८१, ८२, ८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवें अध्याय में आचार्य ने प्राकृत-व्याकरण का वर्णन किया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राकृत-व्याकरण का विश्लेषण ग्रन्थ का मुख्य विषय नहीं था।

जैसा कि कहा गया है, युग-प्रवाह को देखते उन्हें सम्भवत: यही समीचीन लगा हो कि संस्कृत के माध्यम से प्राकृत तक पहुँचा जाए। प्राकृत की सीधे व्याख्या करना उन्हें रुचिकर भी नहीं लगा होगा, क्योंकि बोलचाल में प्राकृत का व्यवहार न रहा, इतना ही नहीं, बल्कि उसके स्वतन्त्र अध्ययन की प्रवृत्ति भी क्षीण हो चुकी थी। उसका अध्ययन संस्कृत-सापेक्ष बन ही गया था। लगता है, इसीलिए उन्हें संस्कृत के आधार को स्वीकार करना समयानुकूल और अध्ययनानुकूल प्रतीत हुआ है। शब्दों के संस्कृत रूप इन-इन परिवर्तनों से प्राकृत-रूप, यही प्राकृतभाषा में प्रवेश पाने का सुगमतम मार्ग था। अस्तु, इसी परिपार्श्व में उन्हें संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहना उचित लगा है, यह सुस्पष्ट प्रतीत होता है।

वस्तुत: आचार्य हेमचन्द्र प्राकृत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भ्रान्त नहीं थे, अपने काव्यानुशासन की पहली कारिका में वे कहते हैं—

अकृत्रिमस्वादुपदां परमार्थाभिधायिनीम्।
सर्वभाषापरिणतां, जैनीं वाचमुपास्महे ।।

अलंकारचूडामणि नामक स्वोपज्ञ व्याख्या में इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—

"अकृत्रिमाणि-असंस्कृतानि अतएव स्वादूनि मन्दधियामपि पेशलानि पदानि यस्यामिति विग्रह:।..................तथा सुरनरतिरश्चां विचित्रासु भाषासु परिणतां तन्मयतां गतां सर्वभाषा-परिणताम्। एकरूपाऽपि हि भगवतोऽर्धमागधी भाषा वारिदविमुक्तवारिवद् आश्रयानुरूपतया परिणमति।"

इस बात को और पुष्ट करने के लिए वे निम्नांकित पद्य भी वहीं उद्धृत करते हैं—

देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम् ।।

हेमचन्द्र द्वारा स्वयं अपनी व्याख्या में किये गये इस विवेचन से स्पष्ट है कि वे संस्कृत को कृत्रिम भाषा मानते थे। प्राकृत उनकी दृष्टि में अकृत्रिम-स्वाभाविक या प्राकृतिक भाषा थी। अस्तु, इस विचार-धारा में विश्वास रखने वाला मनीषी यह स्थापना कैसे कर सकता है कि प्राकृत संस्कृत से निकली है।

हेमचन्द्र के इस व्याकरण की गुजरात में तथा अन्यत्र बहुत प्रशस्ति हुई। इस सम्बन्ध में निम्नांकित श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

किं स्तुम: शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम्।
एकेनापि हि येनेदृक् कृतं शब्दानुशासनम् ।।

सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् जिनमण्डल ने भी इसी प्रकार के उद्गार व्यक्त किये हैं—

जयसिंहदेववयणाउ निम्मियं सिद्धहेमवागरणं।
नीसेससद्दलक्खणनिहाणमिमिणा मुणिंदेणं ।।
[जयसिंहदेववचनात् निर्मितं सिद्धहैमव्याकरणम्।
नि:शेषशब्दलक्षणनिधानमनेन मुनीन्द्रेण ।।]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती महान् नैयायिक एवं कवि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी इसी प्रकार उल्लेख किया है—

अकृत्रिम स्वादुपदैर्जनं जिनेन्द्रः साक्षादिव पासि भाषितैः ।[१]

आचार्य हेमचन्द्र ने इसी परम्परा का अनुसरण किया है। यहाँ तक कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के शब्दों को भी यथावत् रूप में स्वीकार किया है।

रुद्रटकृत काव्यालंकार के व्याख्याता, सुप्रसिद्ध अलंकारशास्त्री जैन विद्वान् नमि साधु ने प्राकृत की व्याख्या करते हुए उसे सब भाषाओं का मूल बताया। पहले मानव की आदिभाषा के सम्बन्ध में विचार करते समय नमि साधु के विचारों को उपस्थित किया गया है। उनके अनुसार प्राकृत शब्द पाक्+कृतं[२] अर्थात् पहले किया हुआ (अति प्राचीन) से बना है।

नमि साधु ने अपनी व्याख्या में यह भी उल्लेख किया है कि जिस प्रकार बादल से गिरा हुआ पानी यद्यपि एकरूप होता है, पर भूमि के भेद से वह अनेक रूपों में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार वह (प्राकृतभाषा) अनेक रूपों में परिणत हो जाती है।..........वही पाणिनि आदि के व्याकरण के नियमों से संस्कार पाकर सम्मार्जित होकर संस्कृत कहलाती है।[३]

नमि साधु उक्त विश्लेषण के संदर्भ में एक बात की और चर्चा करते हैं, जो काफी महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि मूल ग्रंथकार आचार्य रुद्रट ने अपने विवेचनक्रम के मध्य प्राकृत का पहले तथा संस्कृत आदि का बाद में निर्देश किया है।[४]

यह स्पष्ट है, यों कहकर नमि साधु इस बात पर बल देना चाहते हैं कि प्राकृत पूर्ववर्ती है तथा संस्कृत तत्पश्चाद्वर्ती।

नमि साधु के विचार भाषा-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और मननीय हैं। पूर्वोद्धृत वैयाकरणों तथा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के टीकाकारों से ये मेल नहीं खाते। नमि साधु प्रायः इन सभी से पूर्ववर्ती थे।

राजशेखर जैसे अजैन विद्वानों ने भी इसी बात की ओर इंगित किया है। राजशेखर का समय लगभग नौवीं ईसवी माना गया है। बालरामायण का एक प्रसंग है, जहाँ वे लिखते हैं—

---

१. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १, १८

२. ....पाक्—पूर्वकृतं प्राकृतं, बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते।

३. ....मेघनिर्मुक्त जलमिवैकस्वरूपं तदेव विभेदानाप्नोति।...........पाणिन्यादि व्याकरणोदितशब्द-लक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।

४. ....अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि।

रुद्रट का विवेचन—

प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद् योनि किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते,
यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः ।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत् प्राकृतं यद्वचः,
ताँल्लाटाँल्ललिताङ्गि पश्य नुदती दृष्टेनिर्मेषव्रतम् ।।

—बालरामायण ४८, ४९

अर्थात् जो संस्कृत का उत्पत्ति-स्थान है, सुन्दर नयनों वाली नारियों की जिह्वाओं पर जो प्रमोद पाती है, जिसके कान में पड़ने पर अन्य भाषाओं के अक्षरों का रस कड़ुआ लगने लगता है। जिसका सुललित पदों वाला गद्य कामदेव के पद जैसा हृद्य है, ऐसी प्राकृत भाषा जो बोलते हैं, उन लाटदेश (गुजरात) के महानुभावों को हे सुन्दरि ! अपलक नयनों से देख !

इस पद्य में प्राकृत की विशेषताओं के वर्णन के संदर्भ में राजशेखर ने प्राकृत को जो संस्कृत की योनि-प्रकृति या उद्गम-स्रोत बताया है, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण है।

गउडवहो में वाक्पतिराज ने प्राकृत की महत्ता और विशेषता के सम्बन्ध में जो कहा है, उसका उल्लेख पहले किया ही जा चुका है। उन्होंने प्राकृत को सभी भाषाओं का उद्गम-स्रोत[1] बताया है।

गउडवहो में वाक्पतिराज ने प्राकृत के सन्दर्भ में एक बात और कही है, जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से मननीय है। उन्होंने कहा है—

"प्राकृत की छाया-प्रभाव से संस्कृत-वचनों का लावण्य उद्घाटित या उद्भाषित होता है। संस्कृत को संस्कारोत्कृष्ट करने में प्राकृत का बड़ा हाथ है।"[2]

इस उक्ति से यह प्रकट होता है कि संस्कृत-भाषा की विशेषता संस्कारोत्कृष्टता है अर्थात् उत्कृष्टतापूर्वक उसका संस्कार—परिष्कार या परिमार्जन किया हुआ है। ऐसा होने का कारण प्राकृत है। दूसरे शब्दों में प्राकृत कारण है, संस्कृत कार्य है। कार्य से कारण का पूर्वभावित्व स्वाभाविक है।

---

१. **सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो यणेन्ति वायाओ ।**
एन्ति समुद्दं चिय णेन्ति सायराओ च्चिय जलाइं ।।

—गउडवहो ९३

[सकला एतद् वाचो विशन्ति इतश्च निर्यान्ति वाचः ।
आयान्ति समुद्रमेव निर्यान्ति सागरादेव जलानि ।।]

इस भाषा (प्राकृत) में सब भाषाएँ प्रवेश पाती हैं। इसीसे सब भाषाएँ निकलती हैं। पानी समुद्र में ही प्रवेश करता है और समुद्र से ही (वाष्प के रूप में) निकलता है।

२. उम्मिलइ लायण्णं पययच्छायाए सक्कयवयाणं ।
सक्कयसक्कारुक्करिसणेण पययस्स वि पहावो ।। —गउडवहो ६५
[उन्मील्यते लावण्यं प्राकृतच्छायया संस्कृतपदनाम् ।
संस्कृतसंस्कारोत्कर्षणेन प्राकृतस्यापि प्रभावः ।।]

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजशेखर तथा वाक्पति के कथन पर गौर करना होगा। वे जैन-परम्परा के नहीं थे, वैदिक-परम्परा के थे। जैन लेखक प्राकृत को अपने धर्मशास्त्रों की भाषा मानते हुए अपनी परम्परा के निर्वाह अथवा उसका बहुमान करने की दृष्टि से ऐसा कह सकते हैं, पर जहाँ अजैन विद्वान् ऐसा कहते हैं, वहाँ अवश्य कुछ महत्त्व की बात होनी चाहिए।

राजशेखर और वाक्पति का कथन निःसन्देह प्राकृत के अस्तित्व, स्वरूप आदि के यथार्थ अंकन की दृष्टि से है।

आचार्य सिद्धर्षि का अभिमत

संस्कृत वाङ्मय के महान् कथा-शिल्पी आचार्य सिद्धर्षि ने अपने "उपमितिभवप्रपञ्चकथा" नामक महान् संस्कृत कथा-ग्रंथ में भाषा के सम्बन्ध में चर्चा की है, जो प्रस्तुत विषय में बड़ी उपयोगी है। वे लिखते हैं—

संस्कृत और प्राकृत—ये दो भाषाएँ प्रधान हैं। उनमें संस्कृत दुर्विदग्ध जनों के हृदय में स्थित है। प्राकृत बालकों के लिए भी सद्बोधकर है तथा कर्णप्रिय है। फिर भी उन्हें (दुर्विदग्ध जनों को) प्राकृत रुचिकर नहीं लगती। ऐसी स्थिति में जब उपाय है (संस्कृत में ग्रन्थ रचने की मेरी क्षमता है) तब सभी के चित्त का रञ्जन करना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मैं संस्कृत में यह रचना करूँगा।"[1]

जैसा कि उद्धरण से स्पष्ट है, आचार्य सिद्धर्षि संस्कृत को दुर्विदग्ध लोगों के हृदय में स्थित मानते हैं। प्राकृत, उनकी दृष्टि में बालकों द्वारा भी समझे जा सकने योग्य है और कर्णप्रिय है। कोश के अनुसार दुर्विदग्ध[2] का अर्थ पण्डितंमन्य या गर्विष्ठ है। परंपरया यह शब्द श्रेयान् अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। इसका प्रयोग दम्भिप्ता या अहंकारिता जैसे कुत्सित अर्थ में है। यद्यपि आचार्य सिद्धर्षि का यह विश्वास था कि प्राकृत सर्वलोकोपयोगी भाषा है पर वे यह भी मानते थे कि पाण्डित्यभिमानी जनों को प्राकृत में रचा ग्रन्थ रुचेगा नहीं। कारण साफ है, उनका समय (१०वीं, ११वीं शती) वैसा था, जिसकी पहले चर्चा की है, जब प्राकृत का प्रयोग लगभग बन्द हो चुका था और ग्रन्थकार सिद्धान्ततः प्राकृत की उपयोगिता मानते हुए भी संस्कृत की ओर झुकने लगे थे। ऐसा करने में उनका ऐसा आशय प्रतीत

---

१. संस्कृता प्राकृता चेति, भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावद्दुर्विदग्ध हृदि स्थिता॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामपि भासते॥
उपाये सति कर्तव्यं, सर्वेषां चितरञ्जनम्।
अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते॥

—उपमितिभवप्रपञ्चकथा, प्रथम प्रस्ताव ५१, ५३

२. ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति।

—भर्तृहरिकृत नीतिशतक ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है कि उनकी रचना विद्वज्जनों में समादृत बने। अतएव संस्कृत, जो (Linguafrance) का रूप लिये हुए थी, में रचना करने में उन्हें गौरव का अनुभव होता था। दूसरी बात यह है कि प्राकृत को जो सर्वजनोपयोगी भाषा कहा जाता था, वह उसके अतीत की बात थी। उस समय प्राकृत भी संस्कृत की तरह दुर्बोध हो गई थी। दुर्बोध होते हुए भी संस्कृत के पठन-पाठन की परम्परा तब भी अक्षुण्ण थी। प्राकृत के लिए ऐसी बात नहीं थी, अत: संस्कृत में ग्रन्थ लिखने का कुछ अर्थ हो सकता था। जबकि प्राकृत में लिखना उतना भी सार्थक नहीं था। ऐसे कुछ कारण थे, कुछ स्थितियाँ थीं, जिनसे प्राकृत वास्तव में लोकजीवन से इतनी दूर चली गई कि उसे गृहीत करने के लिए संस्कृत का माध्यम अपेक्षित ही नहीं, आवश्यक हो गया।

संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति बनाने में वैयाकरण जिस प्रवाह में बहे हैं, उस स्थिति की एक झलक हमें आचार्य सिद्धर्षि की उपर्युक्त उक्ति में दृष्टिगत होती है।

यही प्रवाह आगे इतना वृद्धिगत हुआ कि लोगों में यह धारणा बद्धमूल हो गई कि संस्कृत प्राकृत का मूल उद्‌गम है।

पण्डित हरगोविन्ददास टी. सेठ ने प्राकृत की प्रकृति के सम्बन्ध में उक्त आचार्यों के विचारों का समीक्षण और पर्यालोचन करने के अनन्तर प्राकृत की जो व्युत्पत्ति की है, वह पठनीय है। उन्होंने लिखा है—"प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्" अथवा "प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्"[1] यह वास्तव में संगत प्रतीत होता है।

प्राकृत के देश्य शब्द : एक विचार

प्राकृत में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं, प्राकृत-वैयाकरणों ने उन्हें तीन भागों में बाँटा है :—

१. तत्सम, २. तद्‌भव, ३. देश्य (देशी)।

(१) **तत्सम**[2]—तत् यहाँ संस्कृत के लिए प्रयुक्त है। जो शब्द संस्कृत और प्राकृत में एक जैसे प्रयुक्त होते हैं, वे तत्सम कहे गये हैं। जैसे—रस, वारि, भार, सार, फल, परिमल, नवल, विमल, जल, नीर, धवल, हरिण, आगम, ईहा, गण, गज, तिमिर, तोरण, तरल, सरल, हरण, मरण, करण, चरण आदि।

(२) **तद्‌भव**—वर्णों का समीकरण, लोप, आगम, परिवर्तन आदि द्वारा जो शब्द संस्कृत शब्दों से उत्पन्न हुए माने जाते हैं, वे तद्‌भव[3] कहे जाते हैं। जैसे—धर्म=धम्म, कर्म=कम्म, यक्ष=जक्ख,

---

१. पाइय सद्दमहण्णवो, प्रथम संस्करण का उपोद्‌घात, पृष्ठ २३।

२. प्राकृत में जो तत्सम शब्द प्रचलित हैं, वे संस्कृत से गृहीत नहीं हैं। वे उस पुरातन लोकभाषा या प्रथम स्तर की प्राकृत के हैं, जिससे वैदिक संस्कृत तथा द्वितीय स्तर की प्राकृतों का विकास हुआ। अतएव इन उत्तरवर्ती भाषाओं में समान रूप से वे शब्द प्रयुक्त होते रहे। वैदिक संस्कृत से वे शब्द लौकिक संस्कृत में आये।

३. प्रथम स्तर की प्राकृत से उत्तरवर्ती प्राकृतों में आये हुए पूर्वोक्त शब्दों में एक बात और घटित हुई। अनेक शब्द, जो ज्यों-के-त्यों बने रहे, तत्सम कहलाये। पर, प्राकृतें तो जीवित भाषाएँ थीं, कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मण=बम्हण, क्षत्रिय=खत्तिअ, ध्यान=झाण, दृष्टि=दिट्ठि, रक्षति=रक्खइ, पृच्छति=पुच्छइ, अस्ति=अत्थि, नास्ति=नत्थि इत्यादि।

(३) **देश्य (देशी)**—प्राकृत में प्रयोग होने वाले शब्दों का एक बहुत बड़ा समुदाय ऐसा है कि जो न संस्कृत शब्दों के सदृश है और न उनसे उद्भूत जैसा प्रतीत होता है। वैयाकरणों ने उन शब्दों को देश्य कहा है। उनके उद्गम की संगति कहीं से भी नहीं जुड़ती। जैसे उअ=पश्य, मुंड=सूकर, तोमरी=लता, खुप्पइ=निमज्जति, हुत्त=अभिमुख, फुंटा=केशबन्ध, बिट्ट=पुत्र, डाल=शाखा टंका=जंघा, धयण=गृह, झडप्प=शीघ्र, चुक्कइ=भ्रश्यति, कंदोट्ट=कुमुद, धढ=स्तूप, विच्छहु=समूह।

इन देश्य शब्दों पर कुछ विचार करना अपेक्षित है। इससे प्राकृत की उत्पत्ति जो एक सीमा तक, अब भी विवादास्पद बनी हुई है, को समझने में सहायता मिलेगी। यदि प्राकृत संस्कृत से निकली होती तो इन देश्य शब्दों का संस्कृत के किन्हीं-न-किन्हीं शब्दों से तो अवश्य सम्बन्ध-स्रोत जुड़ता। पर ऐसा नहीं है। यद्यपि संस्कृत-प्रभावित कतिपय वैयाकरणों ने इन देश्य शब्दों में से अनेक नामों तथा धातुओं को संस्कृत के नामों और धातुओं के स्थान पर आदेश[1] द्वारा प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है।

आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में इस प्रकार का उपक्रम द्रष्टव्य है। एतत्सम्बद्ध कुछ सूत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

वृक्षक्षिप्तयो रुक्खछूढौ ।। २ । १२७

वृक्षक्षिप्तयोर्यथासंख्यं रुक्ख छूढ इत्यादेशौ वा भवतः।

वृक्ष और क्षिप्त शब्द को (विकल्प से) क्रमशः रुक्ख और छढ आदेश होते हैं। यथा—वृक्षः—रुक्खो, क्षिप्तम्—छूढं, उत्क्षिप्तम्—उच्छूढं।

मार्जारस्य मञ्जरवञ्जरौ ।। २ । १३२

मार्जार शब्दस्य मञ्जर वञ्जर इत्यादेशौ वा भवतः।

मार्जार शब्द को (विकल्प से) मञ्जर और वञ्जर आदेश होते हैं। यथा—मार्जार=मञ्जरो, वञ्जरो।

त्रस्तस्य हित्थतट्ठौ ।। २ । १३६

त्रस्त शब्दस्य हित्थ तट्ठ इत्यादेशौ वा भवतः।

त्रस्त शब्द को (विकल्प से) हित्थ और तट्ठ आदेश होते हैं। यथा—त्रस्तम्—हित्थं, तट्ठं।

शब्दों के रूप उनमें परिवर्तित होते गये। यद्यपि वे शब्द संस्कृत और प्राकृत में प्रथम स्तर की प्राकृत से समान रूप में आये थे पर, व्याकरण से नियमित और प्रतिबद्ध होने के कारण संस्कृत में वे शब्द ज्यों-के-त्यों बने रहे। प्राकृत में वैसा रहना सम्भव नहीं था। वे ही परिवर्तित रूप वाले शब्द तद्भव कहलाये। अतः तद्भव का अभिप्राय, जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है, यह नहीं है कि वे संस्कृत शब्दों से निकले हैं।

१. मित्रवदागमः शत्रुवदादेशः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधसो हेट्ठं ।। २ । १४१

अधस् शब्दस्य हेट्ठ इत्ययमादेशो भवति ।

अधस् शब्द को हेट्ठ आदेश होता है । यथा—अध:—हेट्ठं ।

गोणादयः ।। २ । १७४

गोणादय: शब्दा अनुक्तप्रकृतिप्रत्ययलोपागम-वर्णविकारा बहुलं निपात्यन्ते ।

जिनके प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम तथा वर्णविकार आख्यात हैं, ऐसे गोणादि शब्द निपात से सिद्ध होते हैं । यथा—

गौ:=गोणो, गावी
गाव:=गावीओ
बलीवंद:=बइल्लो
आप:=आऊ
पञ्चपञ्चाशत्=पञ्चावण्णा, पणपन्ना
व्युत्सर्ग:=विउसग्गो
व्युत्सर्जनम्=वोसिरणम्
बहिर्मैथुनं वा=बहिद्धा
अपस्मार:=बम्हलो
उत्पलम्=कन्दुट्टं
धिक् धिक्=छि छि
स्थासक:=चच्चिक्कं
निलय:=निहेलणं
जन्म=जम्मणं
क्षुल्लक:=खुड्डओ
कुतूहलम्=कुड्डं
विष्णु:=भट्टिओ
श्मशानम्=करसी
असुरा:=अगया
पौष्पं रज:=तिङ्गिच्छि
दिनम्=अल्लं
समर्थ:=पक्कलो
पण्डक:=णेलच्छो
कर्पास:=पलही
बली=उज्जलो
ताम्बूलम्=झसुरं
पुंश्चली=छिंछई
शाखा=साहुली

इत्यादि ।

कथेर्वज्जर-पज्जरोप्पाल-पिसुण-सँघ-बोल्ल-चव-जम्प-सीस-साहाः ।। ४ । २

कथेर्धातोर्वज्जरादयो दशादेशा वा भवन्ति ।

कथे धातु को (विकल्प से) वज्जर आदि दस आदेश होते हैं । जैसे—वज्जरइ, पज्जरइ, उप्पालइ, पिसुणइ, संघइ, बोल्लइ, चवइ, जम्पइ, सीसइ, साहइ, उब्बुक्कइ इति तूत्पूर्वस्य बुक्क भाषणे इत्यस्य । एते चान्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृता विविधेषु प्रत्ययेषु प्रतिष्ठन्तामिति । तथा च—वज्जरिओ कथितः, वज्जरिऊण कथयित्वा, वज्जरणं कथनम्, वज्जरन्तो कथयन्, वज्जरिअव्वं-कथयितव्यमिति रूपसहस्राणि सिध्यन्ति । संस्कृतधातुवच्च प्रत्ययलोपागमादिविधिः ।

दुःखे णिव्वरः ।। ४ । ३

दु:खविषयस्य कथेर्णिव्वर इत्यादेशो वा भवति । णिव्वरइ-दुक्खं कथयतीत्यर्थः ।

दु:ख विषयक कथ् धातु को (विकल्प से) णिव्वर आदेश होता है । जैसे णिव्वरइ-दु:ख का कथन करता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिबेः पिज्ज-डल्ल-पट्ट-घोट्टाः ।। ४ । १०

पिबतेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति ।

पिब् को (विकल्प से) पिज्ज, डल्ल, पट्ट तथा घोट्ट ये चार आदेश होते हैं; जैसे—पिबति—पिज्जइ, डल्लइ, पट्टई, घोट्टइ ।

निद्रातेरोहीरोङ्घौ ।। ४ । १२

निपूर्वस्य द्रातेः ओहीर उङ्घ इत्यादेशो वा भवतः ।

नि पूर्वक द्राति को (विकल्प से) ओहीर और उङ्घ आदेश होते हैं; जैसे निद्राति—ओहीरइ, उङ्घइ ।

वैयाकरणों ने आदेशों द्वारा देशी शब्दों और क्रियाओं को संस्कृत के साँचे में ढालने का जो प्रयत्न किया, वह वस्तुतः कष्टकल्पना थी, जिसे समीचीन नहीं कहा जा सकता ।

आचार्य हेमचन्द्र के जो सूत्र ऊपर सोदाहरण उद्धृत किये गये हैं, उन से दो तथ्य प्रकाश में आते हैं । एक यह है कि अन्य प्राकृत-वैयाकरणों की तरह हेमचन्द्र भी आदेशों के रूप में उसी प्रकार की कष्ट-कल्पना के प्रवाह में बह गये । दूसरा यह है कि हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के प्रणयन उद्देश्य, कथन, प्रकार आदि पर पिछले पृष्ठों में जो चर्चा की गई है, उसी सन्दर्भ को यहाँ जोड़ा जा सकता है अर्थात् हेमचन्द्र संस्कृत के पुल से प्राकृत के तट पर पहुँचाना चाहते थे, इसलिए देशी शब्दों के आधार, व्युत्पत्ति, स्रोत आदि कुछ भी न प्राप्त होने पर भी उन्हें व्याकरण को परिपूर्णता देने की दृष्टि से आवश्यक लगा है कि देशी शब्दों और धातुओं को भी क्यों छोड़ा जाए । उनके लिए कुछ जोड़-तोड़ की जा सकती है । सम्भवतः इसी का परिणाम हेमचन्द्र द्वारा निरूपित आदेश हैं ।

हेमचन्द्र अपने व्याकरण के चतुर्थ पाद के दूसरे सूत्र में कथ् धातु के स्थान पर होने वाले आदेशों का उल्लेख कर एक और बात सूचित करते हैं कि यद्यपि दूसरे (सम्भवतः दूसरे उनसे पूर्ववर्ती) वैयाकरणों ने इनको देशी (रूपों) में गिना है पर वे (हेमचन्द्र) धात्वादेशपूर्वक इन्हें विविध प्रत्ययों में प्रतिष्ठित करने की व्यवस्था कर रहे हैं । हेमचन्द्र के इस कथन से यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती वैयाकरण अनेक देशी शब्दों और धातुओं को देशी (रूपों) में पढ़ देते थे । वे सभी देशी रूपों को सिद्ध करने का प्रयास नहीं करते थे । हेमचन्द्र ने तो कथ् धातु के अर्थ में प्रयुक्त होने वाली दश देशी क्रियारूपों को उपस्थित कर दिग्दर्शन मात्र कराया है, और भी ऐसे अनेक देशी रूप रहे होंगे, जिन्हें पूर्ववर्ती वैयाकरण देशी में गिनाते रहे हों । यह वस्तुस्थितिपरक बात थी । संस्कृत के ढाँचे में प्राकृत को सम्पूर्णतः ढालने के अभिप्राय से चला यह आदेश-मूलक क्रम भाषा-विज्ञान की दृष्टि से समुचित नहीं था । बलात् व्याकरण के साँचे में उतारने से भाषा के वास्तविक स्वरूप को समझने में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है । पर क्या किया जाता, युग का मोड़ ही सम्भवतः वैसा था ।

संस्कृत-नाटकों पर दृष्टिपात करने से इस तथ्य पर और प्रकाश पड़ता है । जैसा कि प्रसंगोपात्ततया चर्चा की गई है । संस्कृत-प्राकृत रचित नाटकों में सम्भ्रान्त या उच्चकुलोत्पन्न पुरुष पात्र संस्कृत में बोलते हैं तथा साधारण पात्र (महिला, बालक, भृत्य आदि) प्राकृत में बोलते हैं । नाटकों की यह भाषा-सम्बन्धी परम्परा प्राकृत की जनभाषात्मकता की द्योतक है । यहाँ कहने की बात यह है कि इन (उत्तरवर्ती काल में रचित) नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों का सूक्ष्मता से परिशीलन करने पर प्रतीत होता है कि सोचा संस्कृत में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है और उस (सोची हुई शब्दावली) का प्राकृत में अनुवाद मात्र कर दिया गया है। आश्चर्य तब होता है, जब नाटकों के कई प्रकाशनों में यहाँ तक देखा जाता है कि प्राकृत भाग की संस्कृत-छाया तो मोटे टाइप में दी गई है और मूल प्राकृत छोटे टाइप में। अभिप्राय स्पष्ट है, प्राकृत को सर्वथा गौण समझा गया। मुख्य पठनीय भाग तो उनके अनुसार संस्कृत-छाया है।

इन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें स्वाभाविक कम प्रतीत होती हैं, कृत्रिम अधिक। प्राकृतों को नाटकों में रखना नाट्यशास्त्रीय परम्परा का निर्वाहमात्र रह गया। सारांश यह है कि जहाँ साहित्य-सर्जन का प्रसंग उपस्थित होता, सर्जक का ध्यान सीधा संस्कृत की ओर जाता।

देश्य शब्दों का उद्गम

देश्य भाषाओं के उद्गम-स्रोत के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से विचार किया है। उनमें से कइयों का यों सोचना है, जैसा कि यथाप्रसंग चर्चित हुआ है, आर्यों का पहला समुदाय जो पञ्चनद व सरस्वती दृषद्वती की घाटी से होता हुआ मध्यदेश में आबाद हो चुका था, जब बाद में आने वाले आर्यों के दूसरे दल द्वारा वहाँ से खदेड़ दिया, तब वह मध्यदेश के चारों ओर बस गया। पहला समूह मुख्यत: पञ्चनद होता हुआ मध्यदेश में रहा, जहाँ वैदिक वाङ्मय की सृष्टि हुई।

जो आर्य मध्यदेश के चारों ओर के भूभाग में रहते थे, उनका वाग्व्यवहार अपनी प्रादेशिक प्राकृतों में चलता था। प्रदेशभेद से भाषा में भिन्नता हो ही जाती है। इसलिए मध्यदेश में रहने वाले आर्यों की प्राकृतें किन्हीं अंशों में मिलती थीं, किन्हीं में नहीं। मध्यदेश के आर्यों द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ छन्दस् के अधिक निकट रही होंगी क्योंकि छन्दस् उसी भू-भाग की या उसके आस-पास की किसी प्राक्तन लोक-भाषा का परिनिष्ठित रूप थी। मध्यदेश के बाहर की लोक-भाषाएँ या प्राकृतें अपने प्रादेशिक भेद तथा वैदिक परम्परा से असंलग्नता के कारण छन्दस् से अपेक्षाकृत दूर थीं। प्राकृत साहित्य में ये देश्य शब्द गृहीत हुए हैं, उनका स्रोत सम्भवत: ये ही मध्यदेश के बाहर की प्रादेशिक भाषाएँ हैं। क्योंकि इन लोक-भाषाओं का कोई भी प्राक्तन या तत्कालीन रूप वैदिक भाषा का आधार या उद्गम-स्रोत नहीं था। अत: इनसे आये हुए शब्दों के जो देश्य नाम से अभिहित किये, अनुरूप संस्कृत में शब्द नहीं मिलते।

देशभाषा : व्यापकता

देशी भाषा का देशभाषा बहुत प्राचीन नाम है। प्राचीन काल में विभिन्न प्रदेशों की लोक-भाषाएँ या प्राकृतें देशी भाषा या देशभाषा के नाम से प्रचलित थीं। महाभारत में स्कन्द के सैनिकों और पार्षदों के वर्णन के प्रसंग में उल्लेख है—

"वे सैनिक तथा पार्षद विविध प्रकार के चर्म अपने देह पर लपेटे हुए थे। वे अनेक भाषा-भाषी थे। **देश भाषाओं** में कुशल थे तथा परस्पर अपने को स्वामी कहते थे।"[1]

---

१. नानाचर्मभिराच्छन्ना नानाभाषाश्च भारत।
कुशला देशभाषासु जल्पन्तोऽन्योन्यमीश्वरा:॥

—महाभारत, शल्य पर्व, ४५, १०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में देशभाषाओं के सम्बन्ध में चर्चा है, जो इस प्रकार है—

"अब मैं देशभाषाओं के विकल्पों का विवेचन करूँगा अथवा देश भाषाओं का प्रयोग करने वालों को स्वेच्छया वैसा कर लेना चाहिए।"[1]

कामसूत्र में भी लिखा है—

"लोक में वही बहुमत या बहुसमादृत होता है, जो गोष्ठियों में न तो अधिक देशभाषा में कथ कहता है।"[2]

जैन वाङ्मय में अनेक स्थानों पर देशी भाषा सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—सम्राट् श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है—

"तब वह मेघकुमार..............अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में प्रवीण हुआ।[3]

ज्ञातृधर्मकथा सूत्र का एक दूसरा प्रसंग है—

"वहाँ चम्पा नगरी में देवदत्ता नामक गणिका निवास करती थी। वह धनसम्पन्न...........तथा अठारह देशी भाषाओं में निपुण थी।"[4]

जैन वाङ्मय में और भी अनेक प्रसंग हैं, जैसे "...........वह दृढप्रतिज्ञ बालक.........अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में विशारद था।"[5]

"...........दृढ़प्रतिज्ञ बालक.......अठ्ठारह देशी भाषाओं में चतुर था।"[6]

"वहाँ वाणिज्य ग्राम में कामोद्धता नामक वेश्या थी, जो......अठारह देशी भाषाओं में कुशल थी।"[7]

इन प्रसंगों से यह अनुमित होता है कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जो लोकजनीन भाषाएँ या पण्डित

---

१. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषा विकल्पनम्।
अथवाच्छन्दतः कार्या देशभाषाप्रयोक्तृभिः॥

—नाट्यशास्त्र, १७, २४, २६

२. नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयंल्लोके बहुमतो भवेत्॥

—कामसूत्र १, ४, ५०

३. तते णं से मेहेकुमारे...............अट्ठारसविहिप्पगार देसीभाषा विसारए...............होत्था।

—ज्ञातृधर्मकथा सूत्र

४. तत्थ णं चंपाए नयरीए देवदत्ता नाम गणिया परिवसइ ऊड्ढा.........अट्ठारदेसीभाषा विसारया।

—ज्ञातृधर्मकथा सूत्र ३८, ९२

५. तए णं से दढपइण्णे दारए.............अट्ठारसविहदेसिप्पगारभाषा विसारए।

राजप्रश्नीय सूत्र, पत्र १४८

६. तए णं दढपइण्णे दारए.......अट्ठारसदेशीभाषा विसारए।

—औपपातिक सूत्र अवतरण १०९

७. तत्थ णं वाणियगामे कामञ्झया णामं गणिया होत्था.......अट्ठारसदेसीभाषा विसारया।

—विपाकश्रुत पत्र, २१,२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरगोविन्ददास टी० सेठ के शब्दों में प्रथम स्तर की प्राकृतें, जिन्हें सर जार्ज ग्रियर्सन ने Primary Prakritas कहा है, प्रचलित थीं, उन्हें देशभाषा या देशी भाषा के नाम से अभिहित किया गया है। इस सम्बन्ध में कतिपय पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों का मत है कि प्राकृत भाषाओं में जो देशी शब्द और धातुएँ प्रचलित हैं, वे वास्तव में द्रविड़ परिवार तथा आग्नेय परिवार, जो अनार्य भाषा परिवार हैं, से आई हैं। क्योंकि आर्यों का भारत आने से पूर्व यहाँ मुख्यतः द्रविड़ परिवार तथा आग्नेय परिवार की भाषाएँ बोलने वाले लोग बसते थे। आर्यों द्वारा भारत की भूमि ज्यों-ज्यों अधिकृत की जाती रही, वे (अनार्य) अन्य सुरक्षित स्थानों की ओर सरकते रहे। बाद में वहाँ भी आर्य[1] पहुँच गये। संघर्ष के बाद आर्य, अनार्य दोनों जातियों के लोग वहाँ स्थिर हो गये। साथ-साथ रहने से पारस्परिक सम्पर्क बढ़ना स्वाभाविक था। फलतः अनार्य भाषाओं के कुछ शब्द आर्यों की बोलचाल की भाषाओं (या तात्कालीन प्राकृतों) में समा गये।

महाभारत का जो उद्धरण देशभाषाओं के स म्बन्ध में पहले उपस्थित किया गया है, उसके सन्दर्भ पर गौर करने से उक्त तथ्य परिपुष्ट होता है। उन सैनिकों और पार्षदों की वेषभूषा, चाल-ढाल आदि[2]

---

१. संभवतः वे ये आर्य थे, जो आर्यों के दूसरे दल के मध्यदेश में आ जाने पर वहाँ से भाग उठे थे और मध्यदेश के इर्द-गिर्द आबाद हो गये थे।

२. नानावेषधराश्चैव नानामाल्यानुलोपनाः।
नानावस्त्रधराश्चैव चर्मवासस एव च ॥
उष्णीषिणो मुकुटिनः सुग्रीवाश्च सुवर्चसः।
किरीटिनः पञ्चशिखास्तथा काञ्चन मूर्धजाः ॥
त्रिशिखा द्विशिखाश्चैव तथा सप्तशिखाः परे।
शिखण्डिनो मुकुटिनो मुण्डाश्च जटिलास्तथा ॥
चित्रमालाधराः केचित् केचित् रोमाननास्तथा।
विग्रहरसा नित्यमजेया सुरसत्तमैः ॥
कृष्णा निर्मांसवक्त्राश्च दीर्घपृष्ठास्तनूदराः।
स्थूलपृष्ठा ह्रस्वपृष्ठा प्रलम्बोदरमेहनाः ॥
महाभुजा ह्रस्वभुजा ह्रस्वगात्राश्च वामनाः।
कुब्जाश्च ह्रस्वजङ्घाश्च हस्तिकर्ण शिरोधराः ॥
हस्तिनासा कूर्मनासा वृकनासास्तथापरे।
दीर्घोच्छ्वासा दीर्घजङ्घा विकराला ह्यधोमुखाः ॥
महादंष्ट्रा ह्रस्वदंष्ट्राश्चतुर्दंष्ट्रास्तथा परे।
वारणेन्द्रनिभाश्चान्ये भीमा राजन् सहस्रशः ॥
सुविभक्त शरीराश्च दीप्तिमन्तः स्वलङ्कृताः।
पिङ्गाक्षा शङ्कुकर्णाश्च रक्तनासाश्च भारत ॥
पृथुदंष्ट्रा महादंष्ट्राः स्थूलौष्ठा हरिमूर्धजाः।
नाना पादौष्ठदंष्ट्राश्च नानाहस्तशिरोधराः ॥—महाभारत शल्य पर्व १४५-६३-१०२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से प्रकट है कि वे संभवतः अनार्य जाति के लोग थे। देवताओं के सेनापति और असुरों के विजेता के रूप में स्कन्द हिन्दू-शास्त्रों में समादृत हैं। ऐसा अनुमान है कि आदिवासियों की विभिन्न जातियों को उन्होंने संगठित किया हो। महाभारतकार उन भिन्न-भिन्न जातियों के लोगों का विस्तृत वर्णन कर देने के बाद उन्हें देश-भाषाओं में कुशल बतलाते हैं।

आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक सम्पर्क तथा साहचर्य से प्रादेशिक भाषाओं ने एक विशेष रूप लिया हो। संभवतः उन्हें ही यहाँ देशभाषा से संज्ञित किया हो।

पण्डित हरगोविन्ददास टी० सेठ द्रविड़ परिवार तथा आग्नेय परिवार की तमिल, कन्नड़, मुण्डा, आदि भाषाओं से देशी शब्दों के आने पर सन्देह करते हैं। उनके कथन का अभिप्राय है कि ऐसा तभी स्वीकार्य होता, यदि अनार्य भाषाओं में भी देशी शब्दों तथा धातुओं का प्रयोग प्राप्त होता। संभवतः ऐसा नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक बात और सोचने की है कि ये देशी शब्द अनार्य भाषाओं से ज्यों-के-त्यों प्रादेशिक (मुख्यतः मध्यदेश के चतुः पार्श्ववर्ती) प्राकृतों में आ गये, ऐसा न मानकर यदि यों माना जाए कि अनार्य भाषाओं तथा उन विभिन्न प्रादेशिक प्राकृतों के सम्पर्क से कुछ ऐसे नये शब्द निष्पन्न हो गये जिनका कलेवर सम्पूर्णतः न अनार्य-भाषाओं पर आधृत था और न प्राकृतों पर ही। उन देशी शब्दों के ध्वन्यात्मक, संघटनात्मक स्वरूप के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

अस्तु, देशी शब्दों, देशभाषाओं या देशी भाषाओं के परिपार्श्व में इतने विस्तार में जाने का एक ही अभिप्राय था कि प्राकृत के उद्भव और विकास पर कुछ और प्रकाश पड़े। क्योंकि यह विषय आज संदिग्धता की कोटि से मुक्त नहीं हुआ है।

वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत का सादृश्य

प्राकृतों अर्थात् साहित्यिक प्राकृतों का विकास बोलचाल की जन-भाषाओं, दूसरे शब्दों में असाहित्यिक प्राकृतों से हुआ, ठीक वैसे ही जैसे वैदिक भाषा या छन्दस् का। यही कारण है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत में कुछ ऐसा सादृश्य खोज करने पर प्राप्त होता है, जैसा प्राकृत और लौकिक संस्कृत में नहीं है। निम्नांकित उदाहरणों से इसे समझा जा सकता है—

संस्कृत ऋकार के बदले प्राकृत में अकार,[1] आकार[2], इकार[3] तथा उकार[4] होता है। ऋकार के स्थान में उकार की प्रवृत्ति वैदिक वाङ्मय में भी प्राप्त होती है। जैसे ऋग्वेद १,४६,४ में कृत के स्थान

---

१. ऋतोत् ॥८।१।१२६। आदेर्ऋकारस्य अत्वं भवति।—सिद्धहैमशब्दानुशासन

२. आत्कृशा-मृदुक-मृदुत्वे वा ॥८।१।१२७। एषु आदेर्ऋत आद् वा भवति।

३. इत्कृपादौ ॥८।१।१२८
कृपा इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत इत्वं भवति।

४. उदृत्वादौ ॥८।१।१३१
ऋतु इत्यादिषु शब्देषु आदेर्ऋत उद् भवति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर कुठ का प्रयोग है। और भी इस प्रकार प्राकृत में अन्त्य व्यंजन का सर्वत्र लोप होता है।[1] जैसे—यावत् = जाव, तावत् = ताव, यशस् = जसो, तमस् = तमो।

वैदिक साहित्य में हमें यत्र-तत्र ऐसी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। जैसे—पश्चात् के लिए पश्चा (अथर्ववेद संहिता १०-४-११) उच्चात् के लिए उच्चा (तैत्तिरीय संहिता २-३-१४), नीचात् के लिए नीचा (तैत्तिरीय संहिता ४-५-६१)।

प्राकृत में संयुक्त य्, र्, व, श्, ष्, स् का लोप हो जाता है और इन लुप्त अक्षरों के पूर्व के ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाता है।[2] जैसे—पश्यति = पासइ, कश्यपः = कासवो, आवश्यकम् = अवसयं, श्यामा = सामा, विश्राम्यन्ति = वीसमइ, विश्रामः = विसामो, मिश्रम् = मीसं, संस्पर्शः = संफासो, प्रगल्भ = पगल्भ, दुर्लभ = दुल्लह।

वैदिक भाषा में भी हमें इस कोटि के प्रयोग प्राप्त होते हैं। जैसे अप्रगल्भ = अपगल्भ (तैत्तिरीय संहिता ४-५-६१), त्र्यच = त्रिच (शतपथ ब्राह्मण १-३-३-३३), दुर्णाश = दुणाश (शुक्लयजुः प्रातिशाख्य ३-४३)।

प्राकृत के संयुक्त वर्णों के पूर्व का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है।[3] जैसे ताम्रम् = तम्बं, विरहाग्निः = विरहग्गी, आस्यं = अस्सं, मुनीन्द्रः = मुणिन्दो, तीर्थम् = तित्थं, चूर्णः चूण्णो इत्यादि।

वैदिक संस्कृत में भी ऐसी प्रवृत्ति प्राप्त होती है। जैसे—रोदसीप्रा = रोदसिप्रा (ऋग्वेद १०-८८-१०) अमात्र = अमत्र (ऋग्वेद ३-३६-४.)

प्राकृत में संस्कृत के द के बदले पर अनेक स्थानों पर ड होता है।[4] जैसे—दशनम् = डसणं, दृष्टः डट्ठो, दग्धः = डड्ढो, दोला = डोला, दण्ड = डण्डो, दरः = डरो, दतः = डाहो, दम्भः = डम्भो, दर्भः = डभो, कदनम् = कडणं, दोहदः = डोहलो।

वैदिक संस्कृत में भी यत्रतत्र इस प्रकार की स्थिति प्राप्त होती है। जैसे—दुर्दम = दूडम (वाजसनेय संहिता ३।३६), पुरोदास = पुरोडाश (शुक्लयजुः प्रतिशाख्य ३।४४)।

---

१. अन्त्यव्यञ्जनस्य ।८।१।११
शब्दानां यद् अन्त्यव्यञ्जनं तस्य लुग् भवति।

२. लुप्त य-र-व-श-ष-सां दीर्घः ।८।१।४३। (सिद्धहैमशब्दानुशासन)
प्राकृतलक्षणवशाल्लुप्ता याद्या उपरि अधो वा येषां शकार षकार सकाराणां तेषामादेः स्वरस्य दीर्घो भवति।

३. ह्रस्वः संयोगे ।८।१।८४
दीर्घस्य यथादर्शनं संयोगे परे ह्रस्वो भवति।

४. दशन-दष्ट-दग्ध-दोला-दण्ड-दर-दाह-दम्भ-दर्भ-कदन-दोहदे दो वा डः ।८।१।२१७
एषु दस्य डो वा भवति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत में संस्कृत के ख, घ, थ, तथा भ की तरह ध का भी ह होता है।[1] जैसे—साधुः साहू, बधिरः बहिरो, बाधते=वाहइ, इन्द्रधनु=इन्द्रहणू, सभा—सहा।

वैदिक वाङ्मय में भी ऐसा प्राप्त होता है। जैसे—प्रतिसंधाय=प्रतिसंहाय (गोपथ ब्राह्मण २.४)

प्राकृत (मागधी को छोड़कर प्रायः सभी प्राकृतों) में अकारान्त पुलिंग शब्दों के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ओ होता है।[2] जैसे—मनुषः=माणसो, धर्मः धम्मो। एतत् तथा तत् सर्वनाम में भी विकल्प से ऐसा होता है।[3] सः सो, एषः एसो।

वैदिक संस्कृत में भी कहीं प्रथमा एकवचन में ओ दृष्टिगोचर होता है। जैसे—संवत्सरो अजायत (ऋग्वेद संहिता १०.१९०.२) सोचित् (ऋग्वेद संहिता १.१९१.१०-११)

संस्कृत अकारान्त शब्दों में ङसि[4] (पञ्चमी) विभिक्ति में जो देवात्, नरात् धर्मात्, आदि रूप बनते हैं, उनमें अन्त्य त् के स्थान पर प्राकृत में छः आदेश होते हैं।[5] उनमें एक त् का लोप भी है। लोप के प्रसंग को यों भी समझा जा सकता है कि पंचमी विभक्ति में एकवचन में (अकारान्त शब्दों में) आ प्रत्यय होता है। जैसे देवात्=देवा, नरात्=णरा, धर्मात्=धम्मा आदि।

वैदिक वाङ्मय में भी इस प्रकार के कतिपय पञ्चम्यन्त रूप प्राप्त होते हैं। जैसे—उच्चात्=उच्चा, नीच्चात्=नीचा, पश्चात्=पश्चा।

प्राकृत में पञ्चमी विभक्ति बहुवचन में भिस् के स्थान पर हि आदि होते हैं।[6] जैसे देवेहि आदि।

वैदिक संस्कृत में भी इसके अनुरूप देवेभिः ज्येष्ठेभिः गम्भीरेभिः आदि रूप प्राप्त होते हैं।

---

१. ख-घ-थ-ध भाम् ।।८।१।१८७
स्वरात्परेषामसंयुक्तानामनादिभूतानां ख घ थ ध भ इत्येतेषां वर्णानां प्रायो हो भवति।

२. अतः सेर्डोः ।।८।३।२
अकारान्तान्नाम्नः परस्य स्यादेः सेः स्थाने डो भवति।

३. वैतत्तदः ।।८।३।३
एतत्तदोकारात्परस्य स्यादेः सेर्डो भवति।

४. स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्। अष्टाध्यायी ।।४।१।२
सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस् इति द्वितीया।
टा भ्यां भिस् इति तृतीया। ङे भ्यां भ्यस् इति चतुर्थी।
ङसि भ्यां भ्यस् इति पञ्चमी। ङस् ओस् आम इति षष्ठी। ङि ओस् सुप् इति सप्तमी।

५. ङसेस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः ।।८।३।८
अतः परस्य ङसेः त्तो दो दुहि हिन्तो लुक् इत्येते षडादेशा भवन्ति। जैसे वत्सात् वच्छतो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो, वच्छा।

६. भिसो हि हिँ हिं ।।८।३।७
अतः परस्य भिसः स्थाने केवलः सानुनासिकः, सानुस्वारश्च हिर्भवति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत में एकवचन और बहुवचन ही होते हैं द्विवचन नहीं होता। वैदिक संस्कृत में वचन तो तीन हैं पर इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के रूपों का प्रयोग हुआ है। जैसे—इन्द्रवरुणौ के स्थान पर इन्द्रवरुणाः, मित्रावरुणौ के स्थान पर मित्रावरुणाः, नरौ के स्थान पर नराः, सुरथौ के स्थान पर सुरथाः, रथितमौ के बदले रथितमाः।

इस युग के प्राकृत के महान् जर्मन वैयाकरण पिशल ने अपने विशाल ग्रन्थ Comparative grammar of the Prakrit language में संस्कृत से प्राकृत के उद्गम[1] का खण्डन करते हुए प्राकृत तथा वैदिक भाषा के सादृश्य के द्योतक कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—

प्राकृत भाषा	**वैदिक भाषा**
त्तण	त्वन
स्त्रीलिंग षष्ठी के एकवचन का रूप	
आए	आयै
तृतीया बहुवचन का रूप	
एहि	एभिः
बोहि (आज्ञावाचक)	बोधि
ता, जा, एत्थ	तात्, यात्, इत्था
अम्हे	अस्मे
वग्गूहिं	वग्नुभि
सद्धि	सध्रीम्
घिसु	घ्रंस
रुक्षव	रूक्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि प्राकृतों का उद्गम वैदिक-भाषा काल से प्राग्वर्ती किन्हीं बोलचाल की भाषाओं या बोलियों से हुआ, जैसे कि उन्हीं में से किसी बोली के आधार पर वैदिक भाषा अस्तित्व में आई।

---

१. ....This Sanskrit was not the basis of the Prakrit dialects, which indeed go back to a certain popular spoken dialect, which on political or religious grounds, was raised to the status of a literary medium. But the difficulty is that it does not seem useful that all the Prakrit dialects sprang out from one and the same source at least they could not have developed out of Sanskrit, as is generally held by Indian scholars and Hobber, Lassen, Bhandarkar and Jacoby. All the Prakrit languages have a series of common grammatical and lexical characteristics with the Vedic language and such are significantly missing from Sanskrit.
—Page 4.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत के प्रकार

प्राकृतें जीवित भाषाएँ थीं। जैसा कि स्वाभाविक है, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोले जाने के कारण उनके रूपों में भिन्नता आई। उन (बोलचाल की भाषाओं या बोलियों) के आधार पर जो साहित्यिक प्राकृतें विकसित हुई, उनमें भिन्नता रहना स्वाभाविक था। यों प्रादेशिक या भौगोलिक आधार पर प्राकृतों के कई भेद हुए। उनके नाम प्रायः प्रदेश विशेष के आधार पर रखे गये।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में प्राकृतों का वर्णन करते हुए मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका, दक्षिणात्या नाम से प्राकृत के सात भेदों की चर्चा की है।[1]

प्राकृत के उपलब्ध व्याकरणों में सबसे प्राचीन प्राकृत प्रकाश के प्रणेता वररुचि ने महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, और पैशाची इन भेदों का वर्णन किया है।[2]

चण्ड ने मागधी को मागधिका और पैशाची को पैशाचिकी के नाम से उल्लिखित किया है।[3]

छठी शती के सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री दण्डी ने काव्यादर्श में प्राकृतों की भी चर्चा की है। उन्होंने महाराष्ट्री (महाराष्ट्राश्रया), शौरसेनी, गौड़ी और लाटी इन चार प्राकृतों का उल्लेख किया है।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने वररुचि द्वारा वर्णित चार भाषाओं के अतिरिक्त आर्ष, चूलिका, पैशाची और अपभ्रंश इन तीनों को प्राकृतभेदों में और बताया है। हेमचन्द्र ने अर्द्धमागधी को आर्ष कहा है।

त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज और नरसिंह आदि वैयाकरणों ने आचार्य हेमचन्द्र के विभाजन के अनुरूप ही प्राकृत भेदों का प्रतिपादन किया है। अन्तर केवल इतना-सा है, इसमें त्रिविक्रम के अतिरिक्त किसी ने भी आर्ष का विवेचन नहीं किया है। वस्तुतः जैन-परम्परा के आचार्य होने के नाते हेमचन्द्र का, अर्द्धमागधी (जो जैन आगमों की भाषा है) के प्रति विशेष आदरपूर्ण भाव था, अतएव उन्होंने इसे आर्ष[5] नाम से अभिहित किया।

---

१. मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥

—नाट्यशास्त्र १७, १८,

२. प्राकृत प्रकाश १०.१-२, ११.१, १२.३२

३. पैशाचिक्यां रणयोर्लनौ॥ —प्राकृत लक्षण ३.३८
मागधिकायां रसयोर्लशौ॥ —प्राकृत लक्षण ३.३९

४. महाराष्ट्राश्रयां भाषां, प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां, सेतुबन्धादि यन्मयम्॥
शौरसेनी च गौडी च, लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं, व्यवहारेषु सन्निधिम्॥ —काव्यादर्श १.३४-३५

५. ऋषीणामिदमार्षम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्कण्डेय ने प्राकृत-सर्वस्व में प्राकृत को सोलह भेदोपभेदों में विभक्त किया है। उन्होंने प्राकृत को भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच इन चार भागों में बाँटा है। इन चारों का विभाजन इस प्रकार है—

(१) भाषा—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी।

(२) विभाषा—शाकारी, चाण्डाली, शबरी, आभीरिका और टाक्की।

(३) अपभ्रंश—नागर, ब्राचड तथा उपनागर।

(४) पैशाच—कैकय, शौरसेन एवं पाञ्चाल।

नाट्यशास्त्र में विभाषा के सम्बन्ध में उल्लेख है कि शकार, अभीर, चाण्डाल, शबर, द्रमिल, आन्ध्रोत्पन्न तथा वनेचर की भाषा द्रमिल कही जाती है।

मार्कण्डेय ने भाषा, विभाषा आदि के वर्णन के प्रसंग में प्राकृत-चन्द्रिका के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें आठ भाषाओं, छः विभाषाओं, ग्यारह पिशाच-भाषाओं तथा सत्ताईस अपभ्रंशों के सम्बन्ध में चर्चा है। इनमें महाराष्ट्री, आवन्ती, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, वाह्लीकी, मागधी, प्राच्या तथा दक्षिणात्या ये आठ भाषाएँ, छः विभाषाओं में से द्राविड़ और ओढ्ज ये दो विभाषाएँ, ग्यारह पिशाच भाषाओं में से कांचीदेशीय, पाण्ड्य, पाञ्चाल, गौड़, मागध, ब्राचड, दाक्षिणात्य, शौरसेन, कैकय और द्राविड़ ये दश पिशाच भाषाएँ तथा सत्ताईस अपभ्रंशों में ब्राचड, लाट, वैदर्भ, बार्बर, आवन्त्य, पाञ्चाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड, उड्र, द्वैव, पाण्ड्य, कौन्तल, सिंहल, कालिङ्ग, प्राच्य, कार्णाट, काञ्च, द्राविड़, गौर्जर, आभीर और मध्यदेशीय ये तेबीस अपभ्रंश विभिन्न प्रदेशों के नामों से सम्बद्ध हैं। जिन-जिन प्रदेशों में प्राकृतों की जिन-जिन बोलियों का प्रचलन था, वे बोलियाँ उन-उन प्रदेशों के नामों से अभिहित की जाने लगीं। इतनी लम्बी सूची देखकर आश्चर्य करने की बात नहीं है। किसी एक ही प्रदेश की एक ही भाषा उसके भिन्न-भिन्न भागों में कुछ भिन्न रूप ले लेती है और उस प्रदेश के नामों के अनुरूप उप-भाषाओं या बोलियों में बहुत अन्तर नहीं होता पर यत्किञ्चित् भिन्नता तो होती ही है। उदाहरण के लिए हम राजस्थानी भाषा को लें। वैसे तो सारे प्रदेश की एक भाषा राजस्थानी है, पर बीकानेर क्षेत्र में जो उसका रूप है, वह जोधपुर क्षेत्र से भिन्न है। जैसलमेर क्षेत्र की बोली का रूप इनसे और भिन्न है। इसी प्रकार चित्तौड़, डूँगरपुर, बांसवाड़ा, अजमेर, मेरवाड़ा, कोटा, बूँदी आदि हाड़ौती का क्षेत्र, जयपुर या ढूँढाड़ का भाग, अलवर का इलाका, भरतपुर और धौलपुर-मण्डल—इन सब में जन-साधारण द्वारा बोली जाने वाली बोलियाँ थोड़ी बहुत भिन्नता लिए हुए हैं। कारण यह है कि एक ही प्रदेश में बसने वाले लोग यद्यपि राजनैतिक या प्रशासनिक दृष्टि से एक इकाई से सम्बद्ध होते हैं परन्तु उस प्रदेश के भिन्न-भिन्न भू-भागों में पास-पड़ोस की स्थितियों के कारण, अपनी क्षेत्रीय सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक भिन्नताओं या विशेषताओं के कारण परस्पर जो अन्तर होता है, उसका उनकी बोलियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है और एक ही भाषा के अन्तर्गत होने पर भी उनके रूप में, कम ही सही, पार्थक्य आ ही जाता है। ऊपर पिशाच भाषाओं और अपभ्रंशों के जो अनेक भेद दिखलाये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गये हैं, वे पैशाची प्राकृत के क्षेत्र तथा अपभ्रंश के क्षेत्र की अनेकानेक बोलियों और उप-बोलियों के सूचक हैं।

प्राकृत के भिन्न-भिन्न रूपों या भाषाओं पर आगे विस्तार से विचार किया जायेगा। यहाँ तो केवल पृष्ठभूमि के रूप में सूचन-मात्र किया है।

प्राकृतों का विकास : विस्तार-पृष्ठभूमि

पूर्व और पश्चिम की संस्कृति तथा जीवन में प्राचीन काल से ही हम कुछ भेद पाते हैं। पश्चिम के कृष्ण और पूर्व के जरासन्ध जैसे राजाओं के पुराणप्रसिद्ध युद्धों की शृङ्खला इसकी परिचायक है। भारत में आने वाले आर्य पश्चिम में टिके, मध्यदेश में टिके, कुछ पूर्व में भी खदेड़ दिये गये। पर, शायद मगध तक उनका पहुँचना नहीं हुआ होगा। हुआ होगा तो बहुत कम। ऐसा प्रतीत होता है कि कोशल और काशी से बहुत आगे सम्भवतः वे नहीं बढ़े। अतः मगध आदि भारत के पूर्वीय प्रदेशों में वैदिक युग के आदिकाल में वैदिक संस्कृति के जो यज्ञ-याग प्रधान थी, चिन्ह नहीं प्राप्त होते हैं। ऐसा अनुमान है कि वैदिक संस्कृति मगध प्रभृति पूर्वी प्रदेशों में काफी बाद में पहुँची, भगवान् महावीर तथा बुद्ध से सम्भवतः कुछ शताब्दियाँ पूर्व।

वेद-मूलक आर्य-संस्कृति के पहुँचने के पूर्व मगध आर्यों की दृष्टि से निंद्य था। निरुक्तकार यास्क ने मगध को अनार्यों का देश कहा है। ऋग्वेद में कीकर शब्द आया है, जिसे उत्तरकालीन साहित्य में मगध का समानार्थक कहा गया है। ब्राह्मणकाल के साहित्य में भी कुछ ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं, जिनसे प्रकट है कि तब तक पश्चिम के आर्यों का मगध के साथ अस्पृश्यता का-सा व्यवहार रहा था। शतपथ ब्राह्मण में पूर्व में बसने वालों को आसुरी प्रकृति का कहा गया है। आर्य सम्भवतः अनार्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग करते थे, जिसमें निम्नता या घृणा का भाव था।

यहाँ एक बात की ओर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। पहले दल में भारत में आये मध्यदेश में बसे आर्य जब दूसरे दल में आये आर्यों द्वारा मध्यदेश से भगा दिये गये और वे मध्यदेश के चारों ओर विशेषतः पूर्व की ओर बस गये तो उनके भगाने वाले (बाद में दूसरे दल के रूप में आये हुए) आर्यों से वैचारिक दुराव रहा हो, यह बहुत संभाव्य है। उनका वहाँ के मूल निवासियों से मेल-जोल बढ़ा हो, इसकी भी सहज ही कल्पना की जा सकती है। मेल-जोल के दायरे का विस्तार वैवाहिक सम्बन्धों में भी हुआ हो, यों एक मिश्रित नृवंश अस्तित्व में आया हो, जो सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से पश्चिम के आर्यों से दूर रहा हो। वैदिक वाङ्मय में प्राप्त व्रात्य शब्द सम्भवतः इन्हीं पूर्व में बसे आर्यों का, जो सामाजिक दृष्टि से पूर्व में बसने वाले मूल-निवासियों से सम्बद्ध हो चुके थे, द्योतक है। व्रात्य शब्द की विद्वानों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की है। उनमें से एक व्याख्या यह है कि जो लोग यज्ञ-यागादि में विश्वास न कर व्रतधारी यायावर संन्यासियों में श्रद्धा रखते थे, व्रात्य कहे जाते थे। व्रात्यों के लिए वैदिक परम्परा में शुद्धि की एक व्यवस्था है या वे शुद्ध होना चाहते तो उन्हें प्रायश्चित्त-स्वरूप शुद्धचर्य यज्ञ करना पड़ता। व्रात्य-स्तोम में उसका वर्णन है। उस यज्ञ को करने के अनन्तर वे बहिर्भूत आर्य वर्ण-व्यवस्था में स्वीकार कर लिए जाते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसा कि सूचित किया गया है, भगवान् महावीर और बुद्ध से कुछ शताब्दियों पूर्व पश्चिम या मध्यदेश से वे आर्य, जो अपने को शुद्ध कहते थे, मगध, अंग, बंग आदि प्रदेशों में पहुँच गये हों। व्रात्यस्तोम के अनुसार प्रायश्चित्त के रूप में याज्ञिक विधान का क्रम, बहिष्कृत आर्यों का वर्ण-व्यवस्था में पुनः ग्रहण इत्यादि तथ्य इसके परिचायक हैं।

एक बात यहाँ और ध्यान देने की है। पूर्व के लोगों को पश्चिम के आर्यों ने अपनी परम्परा से बहिर्भूत मानते हुए भी भाषा की दृष्टि से उन्हें बहिर्भूत नहीं माना। ब्राह्मण-साहित्य में भाषा के सन्दर्भ में व्रात्यों के लिए इस प्रकार के उल्लेख हैं कि वे अदुरुक्त को भी दुरुक्त कहते हैं,[1] अर्थात् जिसके बोलने में कठिनाई नहीं होती, उसे भी वे कठिन बताते हैं।

व्रात्यों के विषय में यह जो कहा गया है, उनकी सरलतानुगामी भाषाप्रियता का परिचायक है। संस्कृत की तुलना में प्राकृत में वैसी सरलता है ही। इस सम्बन्ध में वेबर का अभिमत है कि यहाँ प्राकृत भाषाओं की ओर संकेत है। उच्चारण सरल बनाने के लिए प्राकृत में ही संयुक्ताक्षरों का लोप तथा उसी प्रकार के अन्य परिवर्तन होते हैं।

व्याकरण के प्रयोजन बतलाते हुए दुष्ट शब्द के अपाकरण के सन्दर्भ में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अशुद्ध उच्चारण द्वारा असुरों के पराभूत होने की जो बात कही है, वहाँ उन्होंने उन पर 'हे अरयः' के स्थान पर 'हेलय' प्रयोग करने का आरोप लगाया[2] है अर्थात् उनकी भाषा में 'र' के स्थान पर 'ल' की प्रवृत्ति थी, जो मागधी की विशेषता है। इससे यह प्रकट होता है कि मागधी का विकास या प्रसार पूर्व में काफी पहले हो चुका था। उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिले के अन्तर्वर्ती सहगौरा नामक स्थान से जो ताम्र-लेख प्राप्त हुआ है, वह ब्राह्मी लिपि का सर्वाधिक प्राचीन लेख है। उसका काल ईसवी पूर्व चौथी शती है। यह स्थान जिसे हम पूर्वी प्रदेश कह रहे हैं, के अन्तर्गत आता है। इसमें 'र' के स्थान 'ल' का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

ऐसा भी अनुमान है कि पश्चिम में आर्यों द्वारा मगध आदि पूर्वीय भू-भागों में याज्ञिक संस्कृति के प्रसार का एक बार प्रबल प्रयत्न किया गया होगा। उसमें उन्हें चाहे तथाकथित उच्च वर्ग के लोगों में ही सही एक सीमा तक सफलता भी मिली होगी। पर जन-साधारण तक सफलता व्याप्त न हो सकी।

भगवान् महावीर और बुद्ध का समय याज्ञिक विधि-विधान, कर्मकाण्ड, बाह्य शौचाचार तथा जन्मगत उच्चता आदि के प्रतिकूल एक व्यापक आन्दोलन का समय था। जन-साधारण का इससे

---

१. अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुः।

—ताण्डच महाब्राह्मण, पंचविंश ब्राह्मण

२. तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः।

—महाभाष्य, प्रथम आन्हिक, पृष्ठ ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावित होना स्वाभाविक था ही, सम्भ्रान्त कुलों और राजपरिवारों तक इसका असर पड़ा। महावीर और बुद्ध के समकालीन कई और भी धर्माचार्य थे, जो अपने आपको तीर्थंकर कहते थे। पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित केशकंबलि, पकुधकत्यायन तथा संजयवेलट्ठिपुत्त आदि उनमें मुख्य थे। बौद्ध वाङ्मय में उन्हें अक्रियावाद, नियतिवाद, अच्छेदवाद, अन्योन्यवाद तथा विक्षेपवाद के प्रवर्तक कहा गया है। यद्यपि आचार-विचार में उनमें भेद अवश्य था, पर वे सबके सब श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत माने गये हैं। ब्राह्मण-संस्कृति यज्ञ-प्रधान थी और श्रमण-संस्कृति त्याग-वैराग्य और संयम प्रधान। श्रमण शब्द की विद्वानों ने कई प्रकार से व्याख्या की है। कुछ विद्वानों ने इसे श्रम, सम और शम पर आधृत माना है। फलतः तपश्चर्या का उग्रतम स्वीकार, जातिगत जन्मगत उच्चत्व का बहिष्कार तथा निर्वेद का पोषण इन पर इसमें अधिक बल दिया जाता रहा है। श्रमण-परम्परा के अन्तवर्ती ये सभी आचार्य याज्ञिक तथा कर्मकाण्डबहुल संस्कृति के विरोधी थे।

यह एक ऐसी पृष्ठभूमि थी, जो प्राकृतों के विकास और व्यापक प्रसार का आधार बनी। भगवान् महावीर और बुद्ध ने लोक-भाषा को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। सम्भव है, उपर्युक्त दूसरे आचार्यों ने भी लोक-भाषा में ही अपने उपदेश किये होंगे। उनका कोई साहित्य आज प्राप्त नहीं है।

महावीर और बुद्ध द्वारा लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किये जाने के मुख्यतः दो कारण सम्भव हैं। एक तो यह हो सकता है—उन्हें आर्य क्षेत्र में व्याप्त और व्याप्यमान याज्ञिक व कर्मकाण्डी परम्परा के प्रतिकूल अपने विचार बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय जन-जन तक सीधे (Directly) पहुँचाने थे, जो लोकभाषा द्वारा ही सम्भव था। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि संस्कृत, जिसके प्रति भाषात्मक उच्चता किंवा पवित्रता का भाव था, जो याज्ञिक परम्परा और कर्मकाण्ड के पुरस्कर्ता पुरोहितों की भाषा थी, का स्वीकार उन्हें संकीर्णतापूर्ण लगा होगा, जो जन-मानस को देखते यथार्थ था।

महावीर और बुद्ध द्वारा प्राकृतों के अपने उपदेश के माध्यम के रूप में अपनालिए जाने पर उन्हें (प्राकृतों का) विशेष वेग तथा बल प्राप्त हुआ। उनके समय में मगध (दक्षिण बिहार) एक शक्तिशाली राज्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। उत्तर-बिहार में वज्जिसंघ के कतिपय गणराज्य स्थापित हो चुके थे और कौशल के तराई के भाग में भी ऐसी ही स्थिति थी, महावीर वज्जिसंग के अन्तर्वर्ती लिच्छवि गणराज्य के थे और बुद्ध कौशल के अन्तर्वर्ती मल्ल गणराज्य के।

यहाँ से प्राकृतों के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का काल गतिशील होता है। तब तक प्राकृत (मागधी) मगध साम्राज्य, जो मगध के चारों ओर दूर-दूर तक फैला हुआ था, के राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। प्राकृतों का उत्कर्ष केवल पूर्वीय भू-भाग तक ही सीमित नहीं रहा। वह पश्चिम में भी फैलने लगा। लोग प्राकृतों को अपनाने लगे। उनके प्रयोग का क्षेत्र बढ़ने लगा। बोलचाल में तो वहाँ (पश्चिम) भी प्राकृतें पहले से थीं ही, अब वे धार्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त अन्यान्य लोक-जनीन विषयों में भी साहित्यिक माध्यम का रूप प्राप्त करने लगीं। वैदिक संस्कृति के पुरस्कर्ता और संस्कृत के पोषक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगों को इसमें अपने उत्कर्ष का विलय आशंकित होने लगा। फलतः प्राकृत के प्रयोग की उत्तरोत्तर संवर्द्धनशील व्यापकता की संस्कृत पर एक विशेष प्रतिक्रिया हुई। तब तक मुख्यतः संस्कृत का प्रयोग पौरोहित्य, कर्मकाण्ड, याज्ञिक विधि-विधान तथा धार्मिक संस्कार आदि से सम्बद्ध विषयों तक ही सीमित था। अब उसमें एक लोकजनीन विषयों पर लोकनीति, राजनीति, सदाचार, समाज-व्यवस्था, लोक-रंजन प्रभृति जीवन के विविध अंगों का संस्पर्श करने वाले साहित्य की सृष्टि होने लगी। प्राकृत में यह सब चल रहा था। लोक-जीवन में रची-पची होने के कारण लोक-चिन्तन का माध्यम यही भाषा थी। अतः उस समय संस्कृत में जो लोक-साहित्य का सर्जन हुआ, उसके भीतर चिन्तन-धारा प्राकृत की है और भाषा का आवरण संस्कृत का। उदाहरण के रूप में महाभारत का नाम लिया जा सकता है। महाभारत समय-समय पर उत्तरोत्तर संवर्द्धित होता रहा है। महाभारत में श्रमण-संस्कृति और जीवन-दर्शन के जो अनेक पक्ष चर्चित हुए हैं, यह सब इसी स्थिति का परिणाम है। भाषावैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से यह अन्वेष्टाओं के लिए गवेषणा का एक महत्वपूर्ण विषय है।

अस्तु—एतन्मूलक (संस्कृत) साहित्य प्राकृतभाषी जन समुदाय में भी प्रवेश पाने लगा। इस क्रम के बीच प्रयुज्यमान भाषा (संस्कृत) के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ। यद्यपि संस्कृत व्याकरण से इतनी कसी हुई भाषा है कि उसमें शब्दों और धातुओं के रूपों में विशेष परिवर्तन की गुंजायश नहीं है, पर फिर भी जब कोई भाषा अन्य भाषा-भाषियों के प्रयोग में आने योग्य बनने लगती है या प्रयोग में आने लगती है तो उसमें स्वरूपात्मक या संघटनात्मक दृष्टि से कुछ ऐसी बातें समाविष्ट होने लगती हैं, जो उन भाषा-भाषियों के लिए सरलता तथा अनुकूलता लाने वाली होती हैं। उसमें सादृश्यमूलक शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगता है। उसका शब्द-कोश भी समृद्धि पाने लगता है। शब्दों के अर्थ में भी जहाँ-तहाँ परिवर्तन हो जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है, वे नये-नये अर्थ ग्रहण करने लगते हैं। विकल्प और अपवाद कम हो जाते हैं। साथ-ही-साथ एक बात और घटित होती है, जब अन्य भाषा-भाषी लोग किसी शिष्ट भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तो उनकी अपनी भाषाओं पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

यह सब हुआ, पर भगवान् महावीर और बुद्ध के अभियान के उत्तरोत्तर गतिशील और अभि-वृद्धिशील होते जाने के कारण संस्कृत उपर्युक्त रूप में सरलता और लोक-जनीनता ग्रहण करने पर भी प्राकृतों का स्थान नहीं ले सकी। अतएव तदुपरान्त संस्कृत में जो साहित्य प्रणीत हुआ, वह विशेषतः विद्वद्भोग्य रहा, उसकी लोक-भोग्यता कम होती गई। लम्बे-लम्बे समास, दुरूह सन्धि-प्रयोग, शब्दालंकार या शब्दाडम्बर तथा कृत्रिमतापूर्ण पदरचना और वाक्यरचना से साहित्य जटिल और क्लिष्ट होता गया। सामान्य पाठकों की पहुँच उस तक कैसे होती। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org